Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संपादक
यशदेव शल्य – मुकुंद लाठ

प्रबन्ध संपादक
अंबिकादत्त शर्मा

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 22, अंक 2
जुलाई, 2008

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्ष 22 अंक 2 जुलाई, 2008

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

प्रबन्ध–सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परामर्शदाता

1. गोविन्दचन्द्र पांडे, एम 2/4, विश्वविद्यालय परिसर, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन–456010
2. रमेशचन्द्र शाह, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
3. अशोक वाजपेयी, सी–60, अनुपम को–आपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–96

संपादक

1. यशदेव शल्य, पी–51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015, दूरभाष 2707493
2. मुकुन्द लाठ, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302006 दूरभाष 2294737 / 2293725
3. अम्बिकादत्त शर्मा, बी.डी.एस. 2, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–220587

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 50/–
संस्थाएं : रु 100/–

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 500/–
संस्थाएं : रु 5000/–

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर से लेजर कम्पोज़िंग तथा के. बी. एस. प्रिण्टर्स, जयपुर द्वारा मुद्रित।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुक्रमणिका

1.	ज्ञान और आत्मा	गोविन्दचन्द्र पांडे	125
2.	विषय और विषयी : चिद्गत अर्थोन्मीलन के आयाम	यशदेव शल्य	143
3.	क्या है? क्या नहीं है? एक बातचीत (तीसरी बैठक)	मुकुन्द लाठ	161
4.	अद्वैत वेदान्त की ज्ञानमीमांसीय मूलाकृति	अम्बिकादत्त शर्मा	201
5.	यथार्थवाद की विधाएँ : न्यायवैशेषिक दर्शन का यथार्थवाद	नारायण शास्त्री द्राविड़	219

पुस्तक–समीक्षा

1.	स्वातन्त्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण सम्पा. अम्बिकादत्त शर्मा	रामेश्वर मिश्र पंकज	227
2.	धर्म–संकट ले. मुकुंद लाठ	विष्णुदत्त पांडेय	256
3.	केन एवं अन्यान्य उपनिषद् – ले. श्री अरविन्द संपादन एवं अनुवाद – अर्चना माहेश्वरी	यशदेव शल्य	279

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	:	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म-संकट	-	मुकुंद लाठ	200.00
3.	मूल्यतत्त्व-मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	-	यशदेव शल्य	200.00
4.	चिद्विमर्श	-	यशदेव शल्य	175.00
5.	तत्त्व-चिन्तन	-	यशदेव शल्य	200.00
6.	काव्य-विमर्श	-	यशदेव शल्य	250.00
7.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन-धाराएं	-	यशदेव शल्य भगवती	150.00

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ज्ञान और आत्मा

गोविन्द चन्द्र पाण्डे

पीछे ज्ञान के विषय में जो कहा गया है उसका संक्षेप यह है कि ज्ञान चेतना की वृत्ति है, जो विषय और विषयी को प्रकाशित करती हुई एक ओर अनित्य मानसिक घटनाओं के रूप में लक्षित होती है, दूसरी ओर वह उनकी नित्य साक्षी बनी रहती है। ज्ञान प्रतिभास, विकल्प और साक्षात्कार के तीन सोपानों में उपलब्ध होता है। अपने अपरोक्ष रूप में ज्ञान स्वत:प्रमाण और परोक्ष रूप में परत:प्रमाण होता है। प्रामाण्य में ज्ञापकता अव्यभिचरित होती है। प्रमाणित ज्ञान जो बतलाता है वह व्यवहार में अविसंवादी होता है, साथ ही वह अन्य ज्ञानों से बाधित नहीं होता है। चेतना आत्मस्वरूप और ज्ञान से अभिन्न होती है। आत्मा अनन्यपरतन्त्र, स्वत:सिद्ध और नित्य होती है।

इन सभी प्रतिपत्तियों के विषय में नाना प्रकार के संदेह उठाये गये हैं। सबसे पहले तो ज्ञान को देह अथवा मस्तिष्क की क्रिया के रूप में मानकर चेतना को उसका आधार मानना एक अनावश्यक कल्पना प्रतीत होती है। यह आपत्ति ज्ञान को एक विषयमात्र मानकर उसे उसकी स्वचेतना से ही अलग कर देती है। किन्तु द्रष्टव्य है कि न्यूरोसायिन्टिस्ट बिना रोगी से प्रश्न किये अथवा उसके इंगितों को पहचाने उसके ज्ञान के विषय में अधिक नहीं कह सकते। इससे स्पष्ट है कि चेतना को विषय–धर्म मानते हुए भी वे उसकी विषयिता तक पहुँचना चाहते हैं। ऐसे भी, कम्प्यूटरीकृत रोबो में भी चेतना के क्रियात्मक और गत्यात्मक अनेक धर्म देखने पर भी उसे चेतन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह पूर्वनियोजित बातें ही कह सकता है अथवा कर सकता है। रेण्डम या यादृच्छिक सूचना को नियोजित करने पर भी कम्प्यूटर सीखने की प्रक्रिया में स्वत: अग्रसर नहीं हो सकता। उसके व्यवहार में स्वतन्त्रता का एक आभास मात्र आ सकता है।

वस्तुत: ज्ञान में जितना महत्त्व सविषयता का है उतना ही विषयिता का है। यहाँ पर आपत्ति हो सकती है कि ज्ञान स्वयं विषयी है, उसमें अपना अलग से ज्ञान नहीं होता। ज्ञान विषय का होता है, उस विषय का विषयी होता है, किन्तु स्वयं वह अन्य ज्ञान का विषय भी होता है। इस प्रकार विषयविषयि–भाव एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध है। नीले ज्ञान में नीला विषय है, ज्ञान उसका विषयी है, किन्तु स्वयं यह ज्ञान विषय भी हो सकता है। जैसे नीला एक दृश्य द्रव्य का गुण होता है, ऐसे ही ज्ञान आत्मा का गुण होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किन्तु यदि ज्ञान स्वप्रकाश न हो तो जगत् ही अन्धा हो जायेगा। यही नहीं, जिन पदार्थ-कोटियों से विषयों का पता चलता है वे ज्ञान पर लागू नहीं होतीं। स्वयं नैयायिक ज्ञान को आत्मा का विशेष गुण मानते हैं जो उसे सब द्रव्यों से पृथक् कर देता है। ज्ञान विषय को दर्शाता है किन्तु विषय के समान नहीं होता। अतः ज्ञान और उसकी विषयिता को सब विषयों से विलक्षण और स्वप्रकाश मानना चाहिए।

यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य है कि जैसे ज्ञान के विषयी का स्वरूप विवादास्पद है ऐसे ही ज्ञान के विषय का स्वरूप भी विवाद के घेरे में है। क्या ज्ञान का विषय बाहरी वस्तु है? या उसका प्रतिरूप है? अथवा उसका ज्ञान के साधनों पर प्रभाव मात्र है? इनमें पहले विकल्प को स्वीकार करने में यह कठिनाई है कि उस दशा में ज्ञान भ्रान्त नहीं हो सकता, क्योंकि भ्रान्त-ज्ञान का विषय बाहरी वस्तु नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि सब ज्ञान का विषय बाह्य वस्तु नहीं होता, कम से कम कुछ ज्ञानों का विषय काल्पनिक होता है। प्रश्न यह है कि क्या किसी भी ज्ञान के विषय को बाह्य वस्तु कहा जा सकता है? इन्द्रियों से जिन विषयों का ज्ञान होता है वे अपेक्षाकृत स्थूल होते हैं, वे देश-काल में फैले होते हैं और अवयवी होते हैं। घट हो चाहे नील, दोनों में ही ये विशेषताएँ मिलती हैं। जो दृश्य वस्तु है वह सूक्ष्म अणु-पुंजों से बनी होती है। ये अणु स्वतः इन्द्रियगोचर नहीं होते। एक सीमा तक उपकरणों के द्वारा उनका प्रत्यक्ष हो सकता है किन्तु उसके आगे वे अनुमान के ही विषय होते हैं। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि ऐन्द्रिय-प्रत्यक्ष के विषय स्वरूपावस्थित बाह्य-वस्तु नहीं हैं।

प्रकारान्तर से यह कहना होगा कि जहाँ मिथ्याज्ञान का विषय सत्य नहीं है वहीं सत्यज्ञान का विषय भी सापेक्ष रूप से ही सत्य है। नील अथवा घट का प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियापेक्ष है किन्तु व्यवहार-समर्थ भी है। अतएव ऐन्द्रिय संवेदन के विषय निरपेक्ष रूप से सत्य अथवा बाह्यार्थ न होते हुए भी व्यवहार-समर्थ होते हैं। अब प्रश्न यह है कि ज्ञान के असत्य अथवा आपेक्षिक सत्य विषय की उसके यथार्थ रूप से स्वतन्त्र अर्थ न होते हुए किस प्रकार की सत्ता है? उसका स्वरूप समझने के लिए यह विचार करना आवश्यक है कि ज्ञान में परोक्ष और अपरोक्ष दो आयाम एकसाथ जुड़े रहते हैं। नील के प्रत्यक्ष में भी निर्विकल्पक प्रतिभास के ऊपर नीलत्व का विकल्प आरोपित रहता है। प्रतिभास और विकल्प दोनों जुड़कर ही सविकल्पक प्रत्यक्ष बनते हैं। इस सविकल्पक ज्ञान में एक अंश प्रत्यक्ष रूप प्रदत्त रहता है, दूसरा अंश तुलनात्मक कोटि-निर्धारण और अपोहात्मक नामकरण का रहता है। यह दूसरा अंश बुद्धि-विकल्प है जिसका विषय बाह्य अर्थ नहीं होता बल्कि प्रतिभास का ही एक गढ़ा हुआ रूप होता है। इस प्रकार के ज्ञान में अपरोक्ष अंश उसे यथार्थ से जोड़ता है, परोक्ष अंश उसे विचार और अभिधान के योग्य बनाता है। अपरोक्ष अंश में एक प्रकार की अनिर्वचनीयता रहती है। इस स्थिति में यह कहना कठिन है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय वस्तुस्वरूप

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होता है। क्षण इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं हो सकता, त्रैलोक्य व्यावृत्त स्वलक्षण यदि हो तो वह विकल्प में सर्वथा अनुक्त रहेगा।

इस बात को स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि विषय की बाह्यता का अर्थ ज्ञान से उसकी स्वतन्त्रता ही है, न कि किसी बहिर्देश में उसकी अवस्थिति। यह कहा जा सकता है कि ज्ञान से विषय का स्वतंत्र होना और ज्ञान का विषय का परतन्त्र होना ज्ञान का लक्षण ही है। यह लक्षण सत्य ज्ञान को मिथ्या ज्ञान से और इच्छा, कल्पना आदि से पृथक् करता है। किन्तु इससे यह नहीं पता चलता कि विषय जिस रूप में जाना जा रहा है वह उस वस्तु का स्वरूप ही है। वस्तु का क्या स्वरूप है यह खोज से पता चलता है, सिर्फ इन्द्रियों को प्राप्त उसके आभास से नहीं। तथापि जहाँ तक ये आभास नियत रूप से प्राप्त होते हैं वे ही आगे जानकारी का साधन बनते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष में उपलब्ध विषय स्वतन्त्र वस्तु का आभास देते हैं किन्तु उसका स्वरूप आवश्यक रूप से नहीं बताते। इन्द्रियों की अपनी रचना से ही परिप्रेक्ष्यात्मक एवं कुछ अन्य प्रकार की भ्रान्तियाँ जन्म लेती हैं। इनको समझ कर इनका विशोधन किया जा सकता है। इन्द्रियों की शक्तियों को भी उपकरणों से बढ़ाया जा सकता है। तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन्द्रियों के द्वारा बतलाया विश्व का रूप वस्तुगत है। जो धर्म वस्तुगत प्रतीत होते हैं वे साधारण गुण होते हैं जिन्हें नापा और गिना जा सकता है। उन गुणों में संवेदन की अपरोक्ष विशेषता नहीं होती, वे उनके सुदूर कारण होते हैं। उदाहरण के लिए पानी का जिह्वा से एक घनिष्ठ और विशिष्ट आस्वादन होता है किन्तु पात्र में रखा आस्वाद्य जल का स्पृश्य द्रवत्व और प्रायः रंगहीन और आकारहीन रूप का उस जिह्वा के गोचर रस से सम्बन्ध अनुभव से ही पता चलता है। 'अमुक प्रकार का पदार्थ इस प्रकार से रसनीय होता है', इसमें उस पदार्थ की विशेषता रसनीयता के हेतु के रूप में ही विदित है। जल का विश्लेषण करने पर उसके अवयव पता चलते हैं। जिन अवयवों से जल बनता है उनको रस के अनुभव का विषय कहने में हम उस अनुभव के कारण ही बताते हैं। 'जल स्वादु है', यहाँ प्रत्यक्ष का विषय स्वाद है जबकि उसमें उल्लिखित वस्तु जल है। प्रकारान्तर से जल को विषय कहने पर स्वादुता को उसके ज्ञान का प्रकार कहना होगा। जल स्पष्ट ही ज्ञान के बाहर है, स्वादुता ज्ञान का प्रकार है। प्रकार के विषय पर आरोप अथवा अभेदाध्यवसाय से ज्ञान की रचना सिद्ध होती है। 'यह नीला है', 'यह ठण्डा है', 'यह सुगन्धित है', इन सभी प्रत्यक्ष ज्ञानों में एक ही प्रकार का विश्लेषण किया जा सकता है। इन प्रत्यक्षों में रूप, रंग, गंध, रस और स्पर्श के जो आभास हैं उन्हें दृश्य वस्तु के या इन्द्रिय-गोचर वस्तु के आभास कहा जा सकता है किन्तु उन आभासों को न तो वस्तु के स्वतन्त्र धर्म माना जा सकता है और न ज्ञान के। उन्हें वस्तु और इन्द्रियों के संयोग पर निर्भर नियत प्रतीतियाँ ही माना जा सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऐसे ही 'यह सर्प है' इस मिथ्या ज्ञान में *यह* पद ज्ञान से बाहर रज्जु का वाचक है, सर्प उस ज्ञान में उसका अध्यवसित प्रकार। यहाँ प्रकार ज्ञान का है और वस्तुगत नहीं है। जिस ज्ञान के विषय में प्रकार का वस्तु में अभाव हो वह मिथ्या ज्ञान है। इसके विपरीत 'भूतल पर घट है', 'फूल में सुगन्ध है' इत्यादि ज्ञानों में प्रकार वस्तुगत है, अर्थात् जो ज्ञान का प्रकार है वह ज्ञायमान् वस्तु में विद्यमान है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि वस्तुगत धर्म ज्ञानगत कैसे हो सकता है? ज्ञान में वस्तु का सादृश्य कैसे हो सकता है? इसी कठिनाई से बचने के लिए कुछ विचारक ज्ञान और वस्तु के बीच में कुछ नहीं रखते, किन्तु तब जैसा ऊपर कहा गया है सत्य और मिथ्या ज्ञान में अन्तर करना कठिन हो जाएगा। इसका एक समाधान यह प्रस्तुत किया गया है कि सत्य और मिथ्या में आत्यन्तिक भेद न हो कर तारतम्य का भेद होता है। रज्जु में सर्प देखने वाला दोनों के समान धर्म से उनका विवेक नहीं कर पाता है, अथवा वह सादृश्यमूलक स्मृति से वंचित हो जाता है। ऐसा नहीं होता कि जो वह देखता है उसका सर्वथा अभाव हो। किन्तु यह मत भ्रान्ति के एक कारण को बताते हुए भी भ्रान्ति को ठीक नहीं बता पाता। भ्रान्ति में एक सीमा तक वस्तु-निरपेक्ष कल्पना का व्यापार मानना होगा। कल्पना ज्ञान से नितान्त भिन्न है, क्योंकि वह स्वतन्त्र होती है।

अब उस प्रश्न की ओर फिर से मुड़ा जाये जहाँ से यह समीक्षा आरम्भ हुई थी, कि ज्ञान का विषय क्या है? यह कहा जा सकता है कि ज्ञान का विषय विषयी के द्वारा जिज्ञासित वस्तु और ज्ञान के प्रकार का समन्वय होता है। ज्ञान के प्रकार की नियामकता वस्तु में रहती है किन्तु इस नियमन में वस्तु और ज्ञान के करण की भूमिका मिली-जुली रहती है। परमाणु, क्षण, सन्तान, संघात आदि अनेक स्तरों में विभक्त वस्तु इन्द्रियादि करणों को प्रभावित कर आभास और विकल्प के स्तरों पर ज्ञान का नियमन करती है। ज्ञान के विभिन्न रूप वस्तु के विभिन्न रूपों का परिचय देते हैं किन्तु ज्ञान की प्रक्रिया एक अनन्त खोज की है। अतः वस्तु-स्वरूप अन्तिम रूप से नहीं जाना जा सकता। परमाणु, क्षण, सामान्य तत्त्व आदि कल्पनाएँ तर्क की दृष्टि से बहुत सी विसंगतियों से जुड़ी हैं। निष्कर्ष यह है कि ज्ञान का विषय ज्ञान और उसके विषयी के स्वरूप के अनुसार ही होता है। यदि विषयी देही है और ज्ञान इन्द्रियों का व्यापार तो विषय देशकाल में अवस्थित पिण्ड होंगे। यदि विषयी बौद्धिक चेतना से लक्षित है और ज्ञान तात्त्विक है तो विषय आकारों से परिलक्षित होंगे। यदि विषयी बुद्धि-साक्षी होगा तो वस्तु-जगत् बुद्धि के आकारों में विलीन हो जाएगा। इस प्रकार सोपान के समान जैसे ज्ञान आरोहण करता है विषय और विषयी बदलते जाते हैं।

ज्ञान विषय को प्रकाशित करता है यह निर्विवाद है, किन्तु क्या वह अपने को भी प्रकाशित करता है? इसमें दो प्रकार की आपत्तियाँ उठाई गयी हैं। ज्ञान का विषय ज्ञान से सदा भिन्न होने के कारण ज्ञान अपना प्रकाशक नहीं हो सकता। विषय और विषयी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वरूपतः अत्यन्त भिन्न हैं, अतएव ज्ञान चेतन विषयी से अभिन्न होने के कारण विषय से भिन्न ही रहेगा। जैसे कोई अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता ऐसे ही ज्ञाता से अभिन्न ज्ञान अपने को नहीं जान सकता। 'विज्ञातारं वा अरे केन विजानीयात्।'

इस समस्या का पहला उत्तर तो यह है कि ज्ञानमात्र में अपना ज्ञान होता है जिसे स्वप्रकाशिता या स्वसंवेदन कहा गया है। इसे न मानने पर एक ज्ञान का दूसरे ज्ञान से भी पता नहीं चलेगा, क्योंकि दूसरे ज्ञान से ज्ञान के विषय का पता चल सकता है किन्तु उस विषय का ज्ञान अज्ञात ही रहेगा। जो विषय को जानता है वह यह भी जानता है कि वह विषय को जानता है, अन्यथा ज्ञान की स्मृति ही नहीं होगी! जिस ज्ञान का ज्ञान ज्ञान होने के समय नहीं होता उसका फिर पीछे किस प्रकार ज्ञान हो सकेगा? स्मृति में वही प्राप्त हो सकता है जो अनुभव में था।

यदि अनुभव में केवल विषय का ज्ञान था तो स्मृति में भी उतना ही होगा; ज्ञान के ज्ञान का अवकाश नहीं उठेगा। इस प्रकार यदि विषय के ज्ञान के समय उस ज्ञान का ज्ञान नहीं होगा तो फिर ज्ञान सदा परोक्ष ही रहेगा। एक मत से इसीलिए ज्ञान को विषयगत ज्ञातता नाम की विशेषता से अनुमेय धर्म माना गया है। किन्तु ज्ञातता का ज्ञान तभी सम्भव है जब किसी वस्तु के ज्ञान का विषय होने की बात उसके अपने होने से पृथक् समझी जाय। ज्ञान के अविदित होने पर उसके विषय में ज्ञान-सापेक्ष विषयता भी प्रतीत नहीं होगी।

इस प्रकार ज्ञान में स्वसंवेदन या स्वप्रकाशता को अगत्या स्वीकार करना होगा। किन्तु यह स्वसंवेदन कहाँ रहता है? यहाँ इस पर विचार अपेक्षित है। नील के ज्ञान का स्वसंवेदन उस नील के ज्ञान में यदि रहता है तो उस ज्ञान के नष्ट हो जाने पर 'मुझे नील का ज्ञान था' यह एक स्मृति के रूप में ही उपलब्ध होगा। सभी नाना विषयों के ज्ञानों का स्वसंवेदन तत्-तत् विषय से नियत ज्ञानों की ही स्मृति के रूप में होगा। मुझे ज्ञान है या होता है, इस प्रकार का कोई ज्ञान नहीं होगा। यही नहीं, जहाँ विचार की प्रक्रिया में हम अनेक ज्ञानों के माध्यम से क्रमशः एक बढ़ता हुआ ज्ञान प्राप्त करते हैं वहाँ भी यह बताना कठिन होगा कि कैसे ज्ञान का स्वसंवेदन ज्ञान की प्रवृत्ति मात्र से ही आरम्भ हो जाता है? जिज्ञासु विचारक अपनी ज्ञानमय सत्ता के प्रति सचेत रहता है। अतः यह कहना कठिन होगा कि स्वसंवेदन ज्ञान मात्र में रहता है, वह विषय-नियत ज्ञानों का वैसा ही प्रतिनियत धर्म नहीं है। ज्ञान में स्वसंवेदन न होने पर ज्ञान की कोई भी प्रक्रिया आरम्भ नहीं होगी, और यह स्वसंवेदन उस प्रकार विषय-नियत नहीं है जैसे विषय का ज्ञान। विषय-ज्ञान में पाया जाने वाला स्वसंवेदन विषय-नियत न होकर ज्ञान-नियत है। वह ज्ञान मात्र की स्वप्रकाशिता है। जहाँ ज्ञान है वहाँ स्वसंवेदन है।

प्रश्न यह उठता है कि क्या ज्ञान निर्विषय रूप से सम्भव है? यह एक व्यापक मान्यता है कि सविषयता (इंटेंश्नेलिटी) ज्ञान का स्वरूपगत धर्म है। यदि ज्ञान के दो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विभाग किये जायें : मनोघटनात्मक और प्रतिपत्त्यात्मक : तो यह अधिक स्पष्ट हो जायेगा। सत्यता अथवा मिथ्यात्व के विषयभूत ज्ञान–वाक्यों में कथित अर्थ यदि ज्ञान है, यदि ज्ञान का स्वरूप तार्किक अध्यवसायात्मक सिद्ध होता है तो निर्विषय ज्ञान स्पष्ट ही असम्भव है। 'अमुक धर्मी में अमुक प्रकार है' इस प्रकार के वाक्य में कहा गया ज्ञान सविषय ही हो सकता है। इससे यही सिद्ध होता है कि विकल्पात्मक ज्ञान संश्लेषण–विश्लेषणपूर्वक होने से सविषयक अवश्य होगा। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में यद्यपि विश्लेषण नहीं रहता और विषय–विषयी का भेद भी स्पष्ट नहीं रहता तो भी उसके पृष्ठभावी विकल्प में ये सभी बातें उभरकर आ जाती हैं और निर्विकल्पक ज्ञान अन्तर्गर्भित विकल्पात्मक प्रतीत होता है। निर्विकल्पक की इस व्याख्या को व्यवहार के अनुरूप मानने पर अवश्य ही ज्ञान–प्रतिभास को सविषयक मानना होगा। किन्तु निर्विकल्पक ज्ञान में विषय एक क्षण है तो वह ज्ञान वस्तु–साक्षात्कारात्मक होगा। तब यह भी कहा जा सकता है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष में उसकी यथार्थ व्याख्या के स्थान पर उस पर इन्द्रियों और मन की सहज प्रवृत्ति के अनुसार कल्पना आरोपित की जाती है। इस कल्पना में व्यावहारिक वासना की नियामकता रहती है। देश, काल और उनके अनुसार संघात और संतान, द्रव्य, गुण, क्रिया, जाति, कार्यकारणभाव, तादात्म्य और भेद आदि अनेक कोटियाँ निरीह प्रत्यक्ष को दबा देती हैं। इसीलिए ध्यान के द्वारा सत्य के साक्षात्कार के लिए निर्विकल्पकता पहली आवश्यकता है। सामान्य जीवन में भी सामाजिक, भाषागत और तार्किक रूढ़ियों से यथाशक्य मुक्त होने पर अनुभूति एक अपूर्व सौन्दर्यात्मक आभास पाती है। यह बात दूसरी है कि उस प्रकार की अनुभूति को सामाजिक सम्प्रेषण के आग्रह से कवि और कलाकार फिर से कुछ पुरानी रूढियों में कस देते हैं। इसीलिए कभी किसी कलाकार को अपनी कृति से पूर्ण सन्तोष नहीं होता। वह जानता है कि उसकी अनुभूति और कृति के बीच बहुत अन्तर है। सत्य–प्रतिपादन के क्षेत्र में भी तार्किक द्वन्द्वात्मकता या प्रासंगिकता इसी प्रकार की अनिर्वचनीयता को व्यक्त करती है। 'व्हेयर ऑफ वन कैन्नाट स्पीक देअर ऑफ वन मस्ट बी साइलेंट' 'निवृत्त्याभिधातव्यम् निवृत्तेशब्दगोचरे।'

अनेक विचारक यह कहते हैं कि शब्दों के बिना विचार नहीं होते। यदि शब्द को वाचक संकेत अथवा विकल्पन की इकाई एवं माध्यम के रूप में समझा जाय तो वह निर्विवाद प्रतीत होता है। 'विकल्पयोनय: शब्दा: विकल्पा: शब्दयोनय:।' 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगमादृते'। किन्तु भाषा–सिद्ध सविषयक चिन्तन की एक पूर्वावस्था होती है जहाँ से विचारात्मक ज्ञान का आरम्भ होता है। यह पूर्वावस्था सृजनात्मक चिन्तन के क्षेत्र में प्रातिभ होती है। यदि किसी भी क्षेत्र के महान सृजन का इतिहास देखा जाय तो उसमें प्रतिभात्मक साक्षात्कार की भूमिका स्पष्ट हो जायेगी। सामान्य चिन्तन बहुधा संस्कारात्मक होता है। वह एक प्रकार से मानसिक ऊहापोह को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दृष्टान्तित करता है जिसके बीच से कभी-कभी नई बात कौंध जाती है। ऐसे क्षणों में प्रतिभा ही कार्य करती है।

मानसिक ज्ञान-प्रवाह में प्रत्येक तरंग अपने को पहचानती है और नष्ट हो जाती है, यह मानने पर उस प्रवाह की एकता का ज्ञान और उसके अभिमानी अहं का ज्ञान असम्भव हो जायेगा। स्मृतियों, संस्कारों और विकल्पनाओं के सहारे इस अहं-बोध को समझना मनोविश्लेषकों के लिए एक खेल हो सकता है किन्तु किसी मनुष्य का आत्म-बोध इस प्रकार से नहीं बनता। आत्मबोध बना रहता है जिस पर एक चित्र-पट के समान अनुभव, स्मृति और कल्पना चित्र खींचते और सुधारते रहते हैं। जो मनुष्य का व्यावहारिक आत्मबोध है वह तो स्वयं मानसिक प्रवाह में बनता है, किन्तु इस प्रवाही आत्मा को अपनाने-छोड़ने वाला उससे अभिन्न नहीं है। जैसे चलचित्र को देखते समय हम उसमें भूले रहते हैं और उसके ही पात्रों में बहुधा अपने-आप को पाते हैं, ऐसे ही जीवनक्रम में हम नाना सामाजिक भूमिकाओं में नाना सविषयक कल्पनाओं में भूले रहते हैं और कभी ही अचानक अपने आपको इन आरोपों से पृथक् देख पाते हैं, जैसे सार्त्र के प्रसिद्ध उपन्यास नौसिया में, या जैसे आदर्शपर्याय में आनन्द ने अचानक अपना बिम्ब देखा।

ज्ञान के जो दो सर्वविदित ध्रुव हैं, विषय और विषयी, उनमें विषय के स्वरूप पर आपत्तियों का उल्लेख करते हुए हमने एक सापेक्षता का दृष्टिकोण अपनाया है। यथार्थवाद, आलोचनात्मक यथार्थवाद और विज्ञानवाद–ये तीनों ही दृष्टियाँ ज्ञाता की परिभाषा और ज्ञान-व्यवहार की परिभाषा की अपेक्षा रखती हैं। यदि विषयी के स्वरूप को निरपेक्ष रूप से चैतन्य से अभिन्न अथवा उसके विलक्षण अधिकरण के रूप में सोचें तो अनेक आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। बहुत से विचारक व्यावहारिक ज्ञान के विषय-विषयी भाव से पृथक् ज्ञान की सत्ता स्वीकार नहीं करते। उनके लिए ज्ञान के आधार चैतन्य की खोज वस्तुतः देह, मन, प्राण में अव्यक्त रूप से विद्यमान ज्ञान की ही खोज है। जब मस्तिष्क के विकास से यह अस्फुट बोध व्यवहार-समर्थ हो जाता है तब वह 'ज्ञान' पद से वाच्य होता है। निर्विशेष या स्वयंभू चैतन्य कुछ नहीं होता, न देह से अतिरिक्त कोई अपार्थिव सत्ता आत्मा के रूप में होती है जिसे चैतन्य या ज्ञान का मूलधर्मी कहा जा सकता है। इस दृष्टि से चैतन्य या आत्मा देह से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई किन्तु अनुभव-प्रवाह से विकल्पित और साध्य विषय है जो देह के साथ नष्ट हो जाता है। आधुनिक अस्तित्ववादी दृष्टिकोण से चैतन्य को एक विलक्षण धर्म मानते हुए और कार्यों के द्वारा स्वनिर्धारित लक्ष्य सिद्ध करते हुए भी वह नश्वर ही रहता है। जो व्यक्तित्व के दैहिक और मानसिक गुणों को कथंचित् पृथक् देखते हैं वे भी उनको स्वतंत्र नहीं देखते।

जो लोग ज्ञान को केवल तार्किक वाक्यों के सत्यत्व की मीमांसा के सन्दर्भ में ही देखते हैं वे आकारिक तर्कशास्त्र की गवेषणा से सन्तुष्ट रहते हैं। सत्य-मिथ्या के उनके

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मूल आकार तर्कशास्त्र अथवा गणितशास्त्र में अवश्य उपादेय होते हैं, किन्तु जब तक ज्ञान के आकारों का वस्तु के या तथ्यों के आकारों के साथ अव्यभिचारी सम्बन्ध न स्थापित हो सके उनके द्वारा वस्तुगत सत्य पर प्रकाश नहीं पड़ता है! वे सत्य और मिथ्या के रूप में विदित ज्ञानों या ज्ञानवाक्यों की एक गणक व्यवस्था ही बने रहेंगे। जब विट्गिंस्टाइन ने अपने ट्रक्टेटस में आपाततः एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त प्रतिपादित किया तो उसका दार्शनिक आधार भाषा की वस्तु-चित्रात्मकता ही थी, जो कि एक दरिद्र दार्शनिक सिद्धान्त है। हाँ, वाक्यों को सत्य-मिथ्या निरूपक मानकर फिर उनके सम्बन्धों के गणित का वह एक उत्कृष्ट नमूना था। स्वयं विट्गिंस्टाइन ने भाषा-विषयक अपने इस सरलीकरण को शीघ्र ही पहचान लिया था। निर्गलितार्थ यह है कि जगत् के विराट् सत्य या मिथ्या का पता उन छोटे-छोटे प्रत्यक्ष-गोचर ज्ञानखण्डों के आधार पर निर्धारित नहीं किया जा सकता जो इस प्रकार के हैं-'यह नीला है', 'यह उससे दुगना लम्बा है', 'यह घटना एक पूर्वनिश्चित घटना से दस गुना अधिक समय लेती है' इत्यादि। इस प्रकार के प्रत्यक्षों पर बहुत कुछ वैज्ञानिक रचनाएँ टिकी हुई हैं। उनमें इस प्रकार के ज्ञान की परिणति जिन कार्य-कार्यात्मक खंडों में होती है उनसे दार्शनिक प्रश्न समाहित रह जाते हैं। बर्ट्रंड रसल अपने प्रत्यक्षवादी काल में इस समस्या से उद्विग्न थे कि क्या सामान्य के बिना गणितशास्त्र सम्भव है? क्वाइन जैसे तर्कशास्त्री तर्कशास्त्र और उसके दर्शन में भेद करते हैं। दार्शनिक प्रश्न उठने पर लगता है कि सनातन प्रश्न वैसे ही उठ खड़े हैं जैसे वे सदा से थे। ज्ञान के विषय में महत्त्वपूर्ण प्रश्न ज्ञान की तत्त्वमीमांसा से जुड़े हैं। बाहरी विषयों के सत्य-मिथ्या का पता चलने से ज्ञान के स्वरूप का सन्तोषजनक पता नहीं चलता। ज्ञान अपनी सत्ता को निर्विवाद रूप से बताता है, उसके साथ ही विषय के अतिरिक्त ज्ञाता का भी पता चलता है। किन्तु जैसे ज्ञान का स्वरूप बाह्य विषयों के समान पता नहीं चलता ऐसे ही ज्ञाता का स्वरूप भी ज्ञान में अन्तर्निहित होकर बाह्य विषयों के समान पता नहीं चलता। दूसरी ओर ज्ञाता अपने को किसी एक विषय के ज्ञान से अविच्छिन्न रूप में नहीं पाता। वह सभी ज्ञानों का समान रूप से व्यापक ज्ञाता होता है, जिसका अपना अस्तित्व अनित्य ज्ञान-प्रवाह में सीमित नहीं होता, प्रत्युत वह उसका द्रष्टा रहता है। काँट में भी साइंथेटिक अप्पर्सेप्शन के साथ ट्रांसेंडेंटल अप्पर्सेप्शन का बोध व्यक्त होता है, किन्तु उसे फिर वह अस्तित्व की दृष्टि से साइंथेटिक अप्पर्सेप्शन में विलीन कर देता है। दूसरी ओर विज्ञानवादियों में भी कुछ ने स्वसंवेदन की विषय-विज्ञानगत प्रतिनियतता देखकर स्वसंवेदन के स्वसंवेदन को मानना आवश्यक समझा। यही नहीं, विज्ञप्तिमात्रता में भी कुछ विज्ञानवादी स्वसंवेदन स्वीकार करते थे, जबकि यह स्पष्ट है कि विज्ञप्तिमात्रता में ग्राह्य-ग्राहक-भाव न रहने से कोई विषय प्रतिनियत नहीं रह सकता।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसीलिए सांख्य और वेदांत में विषय-निरूपित-वृत्ति को ज्ञान के अतिरिक्त ज्ञान-साक्षी स्वीकार किया जाता है। साक्षी के अपरिवर्तित हुए बिना ज्ञान-प्रवाह की परिवर्तनशीलता का पता नहीं चल सकता, यह वेदांतसम्मत युक्ति दूर-दूर तक दार्शनिकों को भायी है। ग्रीन ने शाश्वत चैतन्य की सिद्धि में उसे महत्त्वपूर्ण युक्ति स्वीकार किया है। वैसे भी, यदि केवल वृत्तियों का प्रवाह हो तो प्रवाह के रूप में ज्ञान के लिए एक अप्रवाही ज्ञाता आवश्यक है। प्रायः इस युक्ति का मनोवैज्ञानिकों और मनोवैज्ञानिक दार्शनिकों ने प्रबल विरोध किया है। सौत्रान्तिक दार्शनिक और विलियम जेम्स दोनों ही स्मृति के आधार पर प्रवाह और परिवर्तन के ज्ञान को सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। उन्हें इसके लिए विचित्र कल्पनाएँ करनी पड़ती हैं। बौद्ध कहते हैं कि प्रत्येक वृत्ति पिछली वृत्तियों की वासना का उत्तराधिकार लिए होती है। इससे स्मृति की सिद्धि में सहायता होती है। किन्तु इससे व्यक्तित्व की आधारभूत अहंता के प्रत्यय पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। अहं-प्रत्यय दैहिक और मानसिक तथ्यों की तरह नहीं होता। जो अपने को दैहिक और मानसिक विशेषणों से विशेषित मानते हैं वे भी अपनी विशेषणों के धारक द्रव्य के समान एक पृथक् प्रतीति भी मानते हैं। कोई मनुष्य अपनी कमियों को अपनी सत्ता की अनिवार्यता नहीं मानता, वह उन कमियों को किसी न किसी रूप में आगन्तुक ही मानता है। जो अपराधी है, पापी है, वह भी यह कहता है कि भले ही उसे दण्ड दिया जाय, उसके अस्तित्व या आत्मिक अस्तित्व को दोषी न माना जाय। वह अपने को स्वरूपतः निर्दोष मानता है, दोष उसके लिए आगन्तुक रहते हैं। वह किन्हीं विशेष परिस्थितियों में अपराध करता है, उसकी आत्मा अपराधी नहीं है। इसीलिए यह एक प्रबल सत्य है कि सर्वज्ञ सदा ही क्षमाशील होगा। इसीलिए ईश्वर से क्षमा की प्रार्थना करते हैं।

जो आत्मा को दैहिक-मनोवैज्ञानिक या सामाजिक-सांस्कृतिक साधन से प्राकृत मानव का परिष्कार्य आत्मबोध मानते हैं वे यह भूल जाते हैं कि आदर्शों की साधना के प्रसङ्ग में जो देह, मन, बुद्धि आदि साधनों का उपादान कर उनको आदर्शों के अनुकूल बनाता है वह साधक उन उपाधियों से अभिन्न नहीं है। शरीर का अनुशासन वही कर सकता है जो शरीर की सहज प्रेरणाओं से अपने को कुछ दूर रख सके। शरीर की वृत्तियों में सहज प्रवाहित होने से शरीर का अनुशासन नहीं सिद्ध होता। यही युक्ति मन और बुद्धि के विषय में भी है। ध्यान के अभ्यासी मन के स्वभाव को समझते हुए उसके वशीकरण में प्रवृत्त होते हैं। उनकी चेतना मन को बनाती है, वह मन से अभिन्न नहीं है। सभी आदर्शों की साधना यह सिद्ध कर देती है कि आदर्शों की साधक चेतना में एक निजी प्रेरणा होती है जिसे कोई बाहर से सिखा नहीं सकता। कुछ लोग जो आदर्शों के लिए अपने जीवन की आहुति तक दे देते हैं क्या उनके लिए यह कहा जायेगा कि वे भ्रान्ति के शिकार होते हैं? क्या उन्हें हॉब्स की तरह यह मानना चाहिए कि देह की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सुरक्षा ही मनुष्य का परम कर्त्तव्य है, जिसके लिए वह अन्य सब कर्त्तव्यों को तिलांजलि दे सकता है? कम से कम सुकरात ने तो बिना किसी भावावेश के वैचारिक निष्ठा के स्तर पर ही यह स्वीकार किया था कि राज्य के प्रति कर्त्तव्य मनुष्य की व्यक्तिगत सुरक्षा के ऊपर है। हेगल ने तो इस प्रकार के कर्त्तव्य-बोध को मनुष्य की वास्तविक स्वतन्त्रता बताया।

सत्य यह है कि अपने को बनाने की साधना या आदर्शों को चरितार्थ करने की साधना आत्म-गुणों की ही साधना है। ये गुण या आदर्श चेतना को इसलिए अनिवार्यतया आकृष्ट करते हैं कि वे उसे अपने सहज गुण प्रतीत होते हैं। कर्त्तव्य-विधान कर्म को आत्मा से जोड़ता है और मात्र प्रकृति के विचलन या विक्षोभ से अलग करता है। सत्य की जिज्ञासा चेतना को स्वरूपगत नित्यता से जोड़ती है और मात्र कल्पना से अलग करती है। सौन्दर्य की साधना इसी तरह भावनाओं को अन्त:सत्य से जोड़ती है और बाहरी चमक-दमक से पृथक् करती है और उससे सन्तुष्ट नहीं रहती। यह कहना कि 'आत्मा प्राकृतिक मानव की सांस्कृतिक यात्रा में उत्पन्न हुआ उसका परिष्कृत स्वबोध है' तभी अर्थ रखता है जब संस्कृति मनुष्य की वास्तविक प्रकृति को पहचाने। मनुष्य की वास्तविक प्रकृति औपाधिक, भौतिक-जैविक प्रकृति मात्र नहीं है जिसकी प्रकृति का ज्ञान विज्ञान के द्वारा होता है। तब स्वभावत: ये लोग उसका सुधार भी वैज्ञानिक रूपान्तरण के द्वारा ही संभव मानेंगे। इसी से जीववैज्ञानिक मनुष्य के बीज-संस्कारों को उसी प्रकार बदलना चाहते हैं जैसे गायों को मांसाहारी बनाकर उनके दूध को अधिक पौष्टिक बनाना चाहते हैं। इस एक सीमित क्षेत्र में जनन-कणीय उपाय पशुओं और पौधों में उपयोगी माने गये हैं और मनुष्य में कुछ रोगों की चिकित्सा के लिए भी उनसे आशा की जाती है। किन्तु असंतुलित जनन-कणीय प्रयोग भयावह हो सकते हैं। मनोवैज्ञानिक रासायनिक द्रव्यों के द्वारा कुछ मनोरोगों का निवारण करने का प्रयत्न कर रहे हैं, दूसरी ओर वे मस्तिष्क के प्रतिमान पर संगणक बना रहे हैं। किन्तु मानव-सुधार की इन सभी योजनाओं में मानव-चरित्र के निर्माण का पक्ष प्रबल नहीं है, न इनमें कहीं उन्नत आदर्शों की साधना की बात है, सिवाय इस दुराशा के कि कम्प्यूटर कभी प्रतिभा का स्थान भी ले लेंगे।

यह स्पष्ट है कि आदर्शों की साधना से मनुष्य की जो आत्मचेतना बनती है वह उसके वास्तविक आत्मस्वरूप को लेकर ही सार्थक होती है। यह आत्मस्वरूप भौतिक-जैविक प्रकृति से परिभाषित नहीं होता। सांस्कृतिक साधना इस आत्मस्वरूप के भान से ही सार्थक होती है। अत: आत्मा को साध्य मानना उसके नित्य स्वरूप को कालिक जीवन में व्यक्त करने की ही साधना है। जो नित्य और अतीन्द्रिय आत्मा का अस्तित्व नहीं देख पाते वे आदर्शोन्मुख चेतना का उत्स भी नहीं देख पाते। इसका एक प्रबल प्रमाण संस्कृति का इतिहास बार-बार प्रस्तुत करता है। पिछली दो शताब्दियों में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पश्चिम के देशों में एक अपूर्व वैज्ञानिक–प्राविधिक और औद्योगिक क्रान्ति हुई है। इस क्रान्ति का पश्चिमी आत्मचेतना पर क्या प्रभाव पड़ा है यह देखने के लिए पिछले पचास वर्षों के दर्शन, साहित्य और कला को देखना आवश्यक है। जहाँ एक ओर मनुष्य देश–काल पर विजय प्राप्त कर रहा है और अणु से ब्रह्माण्ड तक पदार्थों को देखने के उपकरण बना रहा है, जहाँ वह दरिद्रता के कारणों की खोज कर उसे दूर करने के उपाय साधने के प्रयत्न कर रहा है, जहाँ वह नित्य नये उपभोग के साधनों का आविष्कार कर रहा है, वहीं उसे अपने अन्दर ऐसा कोई तत्त्व नहीं दिखाई देता जो उसे अपने आप में शान्ति, आनन्द व सन्तोष दे सके। असन्तोष और अशान्ति उसके जीवन के स्थायी तत्त्व बन चुके हैं। क्या वह उपभोग के द्वारा तृष्णा से मुक्ति पा सकता है? पिछले पचास वर्षों में पश्चिमी साहित्य में ऐसे कोई नाम नहीं उभरे हैं जो उसके पहले के पचास वर्षों से तुलनीय हो सकें। यही नहीं, उत्तर–आधुनिक विचारधारा में इस प्रकार के ऊँचे शिखरों को ढूँढना ही स्वीकार्य नहीं है। अदृश्य से दृश्य मात्र में सीमित चेतना चिरपरिचित रूप–योजनाओं से ऊब कर अचेतन की अभिव्यक्ति और विखण्डन की ओर बढ़ने लगती हैं। इक्कीसवीं सदी का पहला दशक अपने सौ वर्ष पूर्व के दशक से तुलना किये जाने पर निराशा ही उत्पन्न करता है। छान्दोग्य में एक प्रसिद्ध कथा है कि इन्द्र और वैरोचन प्रजापति से आत्मज्ञान की शिक्षा के लिए उनके पास गये। प्रजापति के कहने पर एक सरोवर में अपना अलंकृत प्रतिबिम्ब देखकर वैरोचन प्रसन्न हुआ और उसने मान लिया, यही आत्मा है, जिसे हम यथेष्ट रूप से विभूषित कर सकते हैं। तब से देह रूपी आत्मा की देखभाल ही आसुरी सम्पदा की विशेषता रही है। देहात्ममूलक जीवन में औरों की स्पर्धा में विजय प्राप्त करना ही उसका धर्म रहा है। आन्तरिक काम–क्रोध आदि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के स्थान पर उनका पालन–पोषण ही इस संस्कृति का विधान बन जाता है। अशोक ने कहा था कि संयम और भाव–शुद्धि ही सब धर्मों का समान सार है। किन्तु जो मानव–धर्म पश्चिम में उन्नीसवीं सदी से प्रवर्तित हुआ उसमें प्राकृतिक–सामाजिक मानव लौकिक अभ्युदय के प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर ही उत्कर्ष साधना चाहता है। उसमें परोपकारमूलक सामाजिक कल्याण की भावना सुधार, समृद्धि और संविभाग के द्वारा प्राप्तव्य होती है किन्तु उसके सामाजिक आदर्शवाद में इस बात का विस्मरण रहता है कि भौतिक समृद्धि और राजकीय शक्ति एवं क्षमता के मार्ग में अनिवार्यतया व्यक्तियों, वर्गों और देशों का स्वार्थ–संघर्ष बना रहता है। जैसे आध्यात्मिक खोज बढ़ती हुई शान्ति से पता चलती है ऐसे ही भौतिकवादी आधार पर प्रतिष्ठित मानववाद बढ़ती हिंसा से अपना परिचय देता है। इस हिंसा से छुटकारा सामाजिक समझौतों एवं अनुबन्धों के द्वारा सम्भव नहीं है, क्योंकि जहाँ उन समझौतों के पीछे कोई आत्म–बोध नहीं रहता वहाँ वे खोखले ही सिद्ध होते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह कोई आकस्मिक बात नहीं है कि पश्चिमी चिन्तनधारा में, मध्यकाल को छोड़कर, मनुष्य एक ओर गणित और विज्ञान के द्वारा और दूसरी ओर राजसत्ता के द्वारा तात्त्विक ज्ञान और न्यायानुकूल हितसुख प्राप्त करना चाहता है। ज्ञान का प्रतिमान प्रायः गणित में और अब गणित के द्वारा व्याख्येय उपकरणों से परिष्कृत प्रत्यक्ष में खोजा और माना जाता है। ऐसे ही मानव–हित का मुख्य साधन समीचीन राज्य–सत्ता मानी जाती है। मध्यकाल में मनुष्य परमज्ञान को धर्मशास्त्र में प्रदत्त ईश्वरीय ज्ञान में मानता था, मानव–हितसुख अंततः धार्मिक जीवन में ही माना जाता था। किन्तु धार्मिक जीवन धर्म–संघ के निर्देशों से पता चल सकता था और उनके अनुसार व्यवस्था राजसत्ता ही बना सकती थी। ऐसे ही ईश्वरोक्त सत्य भी धर्माचार्यों की व्यवस्थित व्याख्या से ही ठीक पता चल सकता था। आध्यात्मिक सत्य, ईश्वरीय आदेश और इनके निर्धारण का अधिकार केवल चर्च को या उसके अनुगामी राज्य को ही था। इससे हित–सुख प्राप्त करने की खोज राजनीतिक स्तर पर स्वतन्त्रता प्राप्त करने की खोज बन जाती है जिसका श्रद्धा या विचारधारा से संघर्ष अनिवार्य है। संक्षेप में, पश्चिमी चिन्तनधारा एक ओर स्वच्छन्द बौद्धिक विचारधारा में तो दूसरी ओर सामाजिक–राजनीतिक स्वतन्त्रता की खोज में पर्यवसित होती है। यह ऐतिहासिक विवरण इसलिए प्रासंगिक हो जाता है कि जहाँ तक लौकिक मानव की आत्म–साधना का प्रश्न है वहाँ अधिकांश में एक सामाजिक मानव· लौकिक और धार्मिक दोनों ही व्यवस्थाओं में सामाजिक विधि–विधान का अतिक्रमण नहीं करते हैं। शंकराचार्य ने मनुष्य की अहं–प्रतीति के दो रूपों में भेद किया है। एक ओर देहात्मभाव पर निर्भर मिथ्या अहं–प्रतीति है, दूसरी ओर सामाजिक भूमिकाओं से बनी औपचारिक अंह–प्रतीति है। कहने के तरीके से ऐसा लगता है कि मनुष्य की सामाजिक अहंता औपचारिक या गौण होने के कारण उस प्रकार अनिवार्य नहीं है जैसी देहाध्यास पर प्रतिष्ठित सहज अहंता। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। सामाजिक अहंता पर ठेस लगने से मनुष्य आत्मघात करते भी देखे जाते हैं। सामाजिक भूमिका के कारण वे अपने आप का बलिदान भी कर सकते हैं। शारीरिक सुख–दुःख तात्कालिक रूप से अधिक तीक्ष्ण होते हुए भी सामाजिक–मानसिक सुख–दुःख एक अवधि में अधिक प्रभावी हो जाते हैं। आशय यह है कि दैहिक और सामाजिक अहंताओं में कौन अधिक बलवान है, यह कहना कठिन है। इतना अवश्य है कि देह की आत्मरूप से प्रतीति जन्म से ही संवेदनों के द्वारा पुष्ट होती रहती है। वह प्रतीति सांवेदनिक सुख–दुःख और उनके प्राप्ति–परिहार के लिए किये जाते कर्मों की स्मृति से पुष्ट होती है। तटस्थ ज्ञान की भूमिका इसमें गौण रहती है। दूसरी ओर सामांजिक अहंता औरों के साथ प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सम्बन्धों से बनती है। इन सम्बन्धों का ज्ञान संवेदन, भाषा, विचार और भाव के द्वारा होता है। औरों पर अपने सुख–दुःख के लिए निर्भरता को इन सम्बन्धों के निर्धारण में अक्सर मुख्य स्थान दिया जाता है। किन्तु यह बात उसी सामाजिक़ता के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लिए सही है जो व्यावसायिक अनुबन्धों अथवा राजकीय आदेशों पर निर्भर होती है। इस प्रकार की सामाजिकता को अन्ततोगत्वा उपयोगितामूलक कहा जा सकता है। किन्तु वह मनुष्य की मौलिक सामाजिक अहंता का आधार नहीं है। मनुष्य की मौलिक सामाजिकता एक अतर्क्य भाव पर आधारित होती है। यह मनुष्यों के बीच सहानुभूति के सूत्रों के विभिन्न रूपों में समाहित होती है। प्रीति और मैत्री, करुणा और वात्सल्य आदि भाव अपने और दूसरे के बीच एक प्रकार के अभेद की प्रतीति पर आधारित होते हैं। इन भावों में अपनी स्वरूपता को प्रतिबिम्बित करने वाला दूसरा मनुष्य दैहिक-सामाजिक विशेषणों से पहचाना जाने पर भी उनसे अभिन्न नहीं होता। जब कोई जीवित या मृत प्रिय व्यक्ति को नाम से याद करता है, क्या वह उसका पूरा वर्णन कर सकता है? भाव के आलम्बन के रूप में दूसरा व्यक्ति भी अपनी तरह की एक अदृश्य पर अपरोक्ष उपस्थिति के रूप में विद्यमान रहता है। ऐसे ही समूचा समाज, जिसमें हम जीवन-यापन करते हैं, एक ऐसी अदृश्य महासत्ता के रूप में हमारे साथ अन्दर-बाहर रहता है जिसे चेतना के बृहत्तर रूप के अतिरिक्त और कोई उपयुक्त परिभाषा नहीं दी जा सकती। जो इस सत्ता की चेतनता से बचना चाहते हैं वे उसे किसी अन्य परतन्त्रता के रूप में व्याख्यात करते हैं और फिर उस परतन्त्रता को असंख्य कारण-शृंखलाओं में बाँटते हैं। अन्ततः वे कारण मानव-चेतना की वृत्तियाँ और सम्बन्ध ही सिद्ध होते हैं। मनुष्य की सामाजिक अहंता भाषा के औपचारिक प्रयोग की तरह गौण नहीं है। वैसा मानने पर मानव-अस्तित्व पशु के अस्तित्व से अभिन्न हो जायेगा। यह भी अवधेय है कि भाषा से सब उपचार हटा देने पर भाषा की स्थिति भी वैसी ही हो जायेगी जैसी जेम्स जॉयस के फिनेगेन्स वेक में नींड्रेंथल मनुष्य की भाषा की।

उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मनुष्य के आत्मविषयक अनुसंधान से यदि उसका सामाजिक अहं-प्रत्यय हटा दिया जाय तो वह पशु-देह मात्र रह जायेगा। जिस ज्ञान-शक्ति को मनुष्य का स्वरूप-लक्षण माना जाता है उसका पता भाषा के अभाव में नहीं लग सकता, न भाषा का पता विकसित सामाजिकता के अभाव में लग सकता है। इस बात से वे भी इन्कार नहीं कर सकते जो मनुष्य को मात्र एक प्राकृतिक सामाजिक प्राणी मानते हैं। इस प्राणी में ज्ञान का विकास परिवेश के साथ जूझते हुए मनुष्य के लिए एक सुविधाजनक उपकरण के रूप में ही हुआ प्रतीत होता है। किन्तु वस्तुतः जैसा ऊपर कहा गया था, सामाजिकता का आधार एक अतर्क्य भाव है जो पशुओं में नहीं पाया जाता (और न वह नितान्त सुखवादियों में अथवा मौलिक उपयोगितावादियों में पाया जाना चाहिए)। ऐसे ही सामाजिकता का दूसरा अनिवार्य सूत्र विधि-बोध है। कर्त्तव्यता का बोध संस्कार मात्र से प्रेरित पशुओं में नहीं पाया जाता। मनुष्य का नैतिक बोध संस्कारमात्रजन्य परवशता का बोध नहीं है बल्कि एक स्वायत्त चेतना के द्वारा अभिज्ञात विधि का बोध है। यह बात नैतिक अनुभव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की निस्वार्थ व्यापकता के अनुभव के बिना सिद्ध नहीं की जा सकती। यह बात ठीक वैसी ही है जैसे सौन्दर्य का बोध निस्पृह चेतना में वरणीयता के बोध से होता है। सामाजिकता के मूल में ऐसे आध्यात्मिक मूल्यों का बोध होता है जिन्हें चेतना के स्वरूप-निरूपण के अतिरिक्त समझा या समझाया नहीं जा सकता। जो चेतना की इन वृत्तियों पर विचार करते हैं उन्हें चेतना एक स्वतन्त्र स्वरूप से लक्षित प्रतीत होती है। उसकी इस स्वरूपगत स्वतन्त्रता से ही उसके अपरोक्ष विषयों के नियम बनते हैं। यदि मानव-अस्तित्व है तो उसको अपरोक्ष रूप या आकार देने वाली चेतना ही है।

यह कहा जा सकता है कि 'चेतना की विषय-नियामकता के पीछे एक सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास रहता है।' यह चेतना के विवर्तों के किसी एक विशेष विश्व के लिए सही होते हुए भी उसकी मौलिक सृजनशीलता का अपलाप नहीं कर सकता। किसी एक विशेष संस्कृति या संस्कृति के युग में शिक्षित चेतना अपनी सृजनशीलता को उस संस्कृति और युग के साँचों से अप्रभावित होकर नहीं ढालती। इसलिए यह भ्रम हो सकता है कि उस संस्कृति के परिचित चेतना-रूप चेतना की सहज और विश्वजनीन नियामकता के प्रतिफल हैं। हुस्सर्ल ने अपनी प्रसिद्ध उपसंहारात्मिका कृति में इसी भूल के कारण विज्ञान-प्रधान वर्तमान चेतना के आकारों को पश्चिमी संस्कृति की अनन्य उपलब्धि घोषित किया है। इससे अधिक सटीक बात रोर्टी ने कही कि विज्ञान को मैं अपनी संस्कृति का अनन्य लक्षण नहीं मानता, क्योंकि कालान्तर में विज्ञान अन्य संस्कृतियों में भी भावित हो सकता है। ऐसी दशा में रोर्टी ने अपनी संस्कृति का अनन्य परिचय डिकंस् के उपन्यासों में बतलाया है। डिकंस् में जिस प्रकार की अपने ऊपर हँस सकने वाली और मानव-सहानुभूति से आर्द्र मानवता की प्रतीति है वह एक सांस्कृतिक आत्मचेतना की अनन्यता है। यह विचार-योग्य है कि चाहे हुस्सर्ल की विज्ञानप्रवण आत्मचेतना हो चाहे रोर्टी की मानवतावादी चेतना हो, दोनों ही पश्चिमी संस्कृति को परिभाषित करते हुए वस्तुतः एक आदर्श विश्वजनीन संस्कृति को परिभाषित करते हैं। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि संस्कृति की परिभाषा के द्वारा यहाँ मानव-चेतना के आदर्श आयाम की परिभाषा दी जा रही है। अब यह स्मरणीय है कि किसी वस्तु का आदर्श उसके स्वरूप की उपेक्षा नहीं कर सकता। हाथी का आदर्श यह नहीं हो सकता कि वह मच्छर के समान दिखे। यह सही है कि कुछ लोग बड़े वृक्षों को छोटे गमलों में उगाते हैं। वे शायद मनुष्य को फ्रेंकेस्टीन बनाना चाहें। किन्तु इस प्रकार के अपवादों को छोड़कर सहज रूप से यही कहना ठीक लगता है कि मनुष्य का आदर्श उसकी सहज संभावनाओं का उस दिशा में विकास ही हो सकता है जो मानव-विवेक को सहज रूप से भाये। मानव-संभावनाएं बहुमुखी हैं और उनके विकास के बहुत से आदर्श सम्भव हैं। ये आदर्श-भेद ही संस्कृतियों के नियामक पाये जाते हैं। किन्तु यद्यपि मनुष्य कृत्रिम प्रयोग का विषय नहीं है पर यह कहना निराधार नहीं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होगा कि एक सीमा तक इतिहास में इन विभिन्न आदर्शों की उनके परिणामों के रूप में परख हो जाती है। सर्वथा और सर्वांगीण रूप से विश्वसनीय न होते हुए भी इस परख की उपेक्षा करना युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। पेरिक्लीज़ ने जिस एथेंस का गुणगान किया था उसके आत्मघाती पक्ष को वह नहीं देख पाया था। नीत्शे ने यूनानी दुःखांतिका (ट्रेजेडी) में डायोनीसियन और अपोलोनीनियन की जिस संतुलन की बात कही थी वह संतुलन यूनानी राजनीति में स्थापित नहीं हुआ, यद्यपि राजनीति को यूनानी विचारक आदर्श जीवन का चरम साधन मानते थे। जो रहस्यात्मक अध्यात्म-साधना उनके सार्वजनिक जीवन और चिन्तन में एक किनारे कर दी गई थी उसकी ओर उनका ध्यान उनकी मुख्य राजनीति की विफलता के बाद ही गया। किन्तु तब वह उनकी मुख्य दर्शन-धारा से समन्वित नहीं हो सका। टु ओन्, टु कोलोन, टु अगाथोन (सत्य, सौन्दर्य और श्रेयस्) को प्लातोन ने सर्वश्रेष्ठ मूल्य विज्ञापित किया था। उनकी साधना ने दर्शन और विज्ञान, कला और काव्य एवं राजनीति की उपलब्धियों में अपूर्व सफलता प्राप्त की, यह सत्य है। किन्तु यह साधना धार्मिक श्रद्धा और साम्राज्यवादी दबाव के सामने नहीं टिक सकी। यूनानी आत्म-साधना की मुख्य दृष्टि, जिसे रेश्नेलिटी कहा जा सकता है, अवश्य ही उससे अनुप्राणित पश्चिमी संस्कृति और उसके द्वारा विश्व-संस्कृति में तत्त्वतः विद्यमान है, यद्यपि उसकी प्रवर्तक जाति को इतिहास में बहुत दिन पहले ही रंगमंच से बाहर कर दिया गया था। इस चली आ रही पुरानी रेश्नेलिटी की धारा की अनेक प्रकार से अभावपूर्ति का प्रयत्न किया जाता रहा है। यह प्रायः स्पष्ट हो चुका है कि कोरी रेश्नेलिटी एक अधूरा आदर्श है। इसे अपने पूरक के रूप में प्रत्यक्ष ज्ञान की आवश्यकता है। बुद्धिमूलक ज्ञान और प्रत्यक्षमूलक ज्ञान के समन्वय से ही आधुनिक विज्ञान का प्रासाद खड़ा हुआ है। यह समन्वय सर्वाधिक गणितीय भौतिकी में दिखाई देता है जहाँ बौद्धिक ज्ञान का नेतृत्व असंदिग्ध है। किन्तु मानव-देहविषयक और मस्तिष्कीय ज्ञानविषयक जानकारी के निरंतर बढ़ते जाने पर भी ज्ञान की यह साधना मनुष्य को स्वीकृत आत्मिक आदर्शों को चरितार्थ करने का निश्चित मार्ग नहीं बताती है। रेश्नेलिटी अपने पूरक इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के साथ अनात्म विषयों का ही ज्ञान देती है। अनन्त ज्ञानाकारों की क्रमिक गवेषणा से ज्ञान चरितार्थ नहीं होता, न नैतिक गुण पर बौद्धिक विचार से उसकी प्राप्ति होती है, न सौन्दर्य के व्यंजक रूपों का सृजन उनकी सर्जक प्रतिभा को आत्मविश्रान्ति देता है।

संक्षेप में, चेतना की पराचीन वृत्ति उसके स्वरूप को निरुपाधिक रूप से प्रकाशित नहीं करती। उसके लिए निरुपाधिक प्रतीचीन वृत्ति ही एक मात्र सहारा है। साध्य विश्व में आत्मा को खोजना तभी सार्थक है जब उस भूलभुलैया के संकेतों को समझकर उससे बाहर निकलने का मार्ग खोजा जाय। आत्मा आदर्श-साधना के केन्द्र के रूप में रहती है। वह ऐसी साधक है जो स्वयं साध्य भी है। साधक की ओर मुड़ने से ही नित्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सिद्ध आत्मा का पता चलता है। ज्ञान की साधना में आत्मा ज्ञान का विषय न होकर उसके द्रष्टा के रूप में रहता है। श्रेयस् की साधना में आत्मा विधि के अनुसार कर्त्तृत्व में चरितार्थ न होकर कर्म के प्रति निष्काम भाव से अवस्थित चेतना के रूप में ही होती है। ऐसे ही सौन्दर्य की साधना में रूप का सृजन जिस भाव से होता है उस भाव के साक्षी के रूप में आत्मा होती है। सभी आदर्शों की साधना में यद्यपि एक अन्तर्मुखता अनिवार्यतया रहती है तो भी बहिरूपता उसे आच्छादित करती रहती है। आत्मस्वरूप की खोज के लिए अन्तर्मुख चेतना का ही सूत्र सहायक होता है। मैं कौन हूँ? कहाँ से मेरे विचारों का जन्म हो रहा है? कहाँ से मुझे अपनी प्रतीति हो रही है? कहाँ से भावों का उद्‌गम हो रहा है? इस प्रकार का अन्तर्मुख विमर्श एक आन्तरिक अपरोक्ष बोध के सहारे अग्रसर होता है, जो विषयोन्मुख वृत्तियों का निषेध करता है। यही आत्मानुसंधान की चिर प्रसिद्ध परम्परा है। उपनिषदों से रमण महर्षि तक पारम्परिक पदावली में तात्त्विक आत्मज्ञान योगि-प्रत्यक्ष से प्रमाणित है, जबकि व्यावहारिक आत्म-सत्ता सामान्य मानसिक प्रत्यक्ष से प्रमाणित होती है। कुछ विचारक यह आपत्ति कर सकते हैं कि परम्परा के अनुसार आत्मा के अस्तित्व और स्वरूप का वास्तविक प्रमाण शब्द या आगम है। किन्तु आप्तवचन या आगम जिन ऋषि-मुनियों के वचन हैं उनका ज्ञान साक्षात्कारमूलक ही माना जाता है। यही बात आधुनिक वेदान्त के और सांख्य-योग के मनीषियों ने निर्धारित की है। अतः अपरोक्षानुभूति ही आत्मा का मूल प्रमाण है। यह अपरोक्षानुभूति केवल मनोवृत्ति-निषेध मात्र से प्राप्त नहीं होती, उसके लिए सुदीर्घकालीन आदर्श-साधना के द्वारा संस्कृत मन-बुद्धि आदि से युक्त व्यक्तित्व चाहिए। व्यक्तित्व का नेतृत्व जिस अहं-प्रतीति से संचालित होता है उसे जब तक अपनी प्रदत्त अतिक्रामी स्थिति का बोध नहीं होता तब तक व्यक्तित्व के किसी आदर्श की साधना सम्भव नहीं है।

इस व्यावहारिक आत्मा अथवा व्यक्तित्व को प्रमातृत्व, कर्त्तृत्व आदि के द्वारा लक्षित किया जाता है। ज्ञान, कर्म, भाव आदि की आधारभूत अस्मिता के विषय में संक्षिप्त विचार करना आवश्यक है। ज्ञान का निर्विवाद आधार प्रत्यक्ष अनुभव माना जाता है। किन्तु यह प्रत्यक्ष अनुभव तब तक ज्ञान नहीं बनता जब तक वह बुद्धि के व्यापार से जुड़कर व्याख्यायित नहीं होता। 'यह नीला है' तभी ज्ञान होता है जब नीला नीलेपन के बोध से जुड़ा हो और उसमें अन्य रंगों का व्यवच्छेद हो। इस प्रकार सामान्य और अपोह से जुड़कर ही विशेष जाना जाता है। इस व्यापार में शब्द-योजना अनिवार्य तथा अपेक्षित है। प्रत्यक्ष-जन्य ज्ञान ज्ञान-विकल्प में उपनीत होने के लिए उसमें पदार्थ-योजना और अपने ज्ञान के साथ उसका प्रत्यवमर्श आवश्यक है। संक्षेप में, ज्ञान का कोई भी प्रकार : प्रत्यक्ष, अनुमान या आगमिक : तभी ज्ञान होता है जब वह प्रत्यवमर्श से एक भेदाभेद अवगाही चेतना का अपरोक्ष विषय होता है। जैसे-जैसे ज्ञान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व्यापक और सूक्ष्म होता जाता है उसकी विमर्शात्मक अन्विति वैसे-वैसे गहरी होती हुई विषयों को प्रकाशित करती हुई उनको अपने स्वरूप से नियत करती प्रतीत होती है। जब ज्ञान बाह्य प्रदत्त से अधिक एक आन्तरिक केन्द्र से निर्झरित प्रतीत होता है तब वह प्रातिभ कहा जाता है।

ऐसे ही कर्म की प्रेरणा जहाँ एक ओर इच्छा से आती है वहीं दूसरी ओर वह अपनी सामाजिक भूमिका के बोध से आती है। इस सामाजिक भूमिका की प्रेरणा में एक प्रकार की आहार्य इच्छा रहती है जिसमें अपने अन्तर्निहित प्रयोजन साध्य होते हैं। किन्तु यह भूमिका व्यापकतर होती हुई मानवमात्र की लोक-संग्रहात्मक प्रवृत्ति का आधार बनती है। मनुष्य होने के नाते मेरा जो मनुष्य मात्र के प्रति आत्मौपम्य पर आधारित कर्त्तव्य है वह व्यक्तिशः प्राप्य सार्वजनिक हित-सुख से भिन्न स्वरूप को चरितार्थ करना है। नाना सुखों-दुःखों में अविचलित रहकर निश्चल शान्ति का अनुभव उन सभी प्रेरणाओं से मुक्त होने पर ही प्राप्त हो सकता है जिन्हें क्लिष्ट प्रवृत्ति कहा गया है। इस प्रकार मुक्ति, शान्ति और निष्काम परोपकार जिस भूमिका में चरितार्थ होते हैं वे ही स्वरूप में अवस्थित कहलाते हैं।

कलात्मक अनुभूति में निष्क्रिय चेतना और निष्काम आनन्द की प्रतीति ही सहज रूप से होती है। इस प्रकार की प्रतीति अपनी सघन और सम्प्रेष्य रूपता में कलाकारों और गुणीजन को होते हुए भी उसका संस्पर्श सभी मनुष्यों को रहता है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो कल्पना और अन्तर्मुख चेतना को छोड़कर जीवन बिताता हो। अधिकांश समय बाहरी काम करते हुए भी हम अपने मन में निरंतर डुबकी लगाते रहते हैं। जैसे झूला एक कील से बँधा हुआ दूसरे छोर पर आन्दोलित होता है, ऐसे ही सभी मनुष्यों की चेतना एक अन्तर्मुख केन्द्र पर विश्रान्ति को बिना छोड़े बाहरी कार्यों में लगी रहती है। अनेक कथाकारों ने इस अन्तर्मुख चेतना का विवरण अन्तर्जल्प-प्रवाह के सहारे देना चाहा है, किन्तु यह अन्तर्जल्प व्यक्तिगत संस्कारों से आपाततः निकलता हुआ भी एक आत्मचेतना के अदृश्य तंतुओं से निर्धारित रहता है। इसका पता ध्यानगत आत्मप्रेक्षा से चलता है। साहित्य-रचना के लिए यह अन्तश्चेतना संचारी और अस्थायी भावों को छूती हुई अन्तर्बहिर् दशापन्न संवित् में विश्रान्त होती है। इन विवरणों के विस्तार पर विवाद होते हुए भी यह निर्विवाद है कि अन्तर्बोध के स्पर्श से रहित चेतना मानव-चेतना नहीं होती है। सुख-दुःख की अनुभूतियाँ मर्मस्पर्शी होती हैं और क्षण भर के लिए मनुष्य को बाहरी स्थिति से अलग कर देती हैं। ऐसा न होता तो साहित्य और कला का स्थान मनोविज्ञान, सामान्य विज्ञान और इतिहास ले लेते।

पिछले विवरण में हमने यह बात सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जो मनुष्य की व्यावहारिक आत्मानुभूति और आत्म-साधना होती है वह अपने पूर्वग्रह के रूप में एक ऐसी स्वानुभूति की अपेक्षा रखती है जिसका विषयगत रूप से ण्ता न चलने पर भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किसी प्रकार अपलाप या प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता। जैसे कोई ज्योति की ओर पीठ किये छायाओं का अनुसंधान करता है ऐसे ही विषयों में अपनी खोज है, यह बात बहुत बार कही गई है। व्यावहारिक जीवन का आत्मानुसंधान जिस अन्तर्मुख चेतना में स्वानुभूति से जुड़ा रहता है वही आत्मसत्ता का अकाट्य प्रमाण है। ऊपर कही गयी ज्ञान, कर्म, और भाव की साधनाओं में यह बात और पुष्ट होती है।

प्रमाण के विषय में ऊपर यह प्रतिपादन किया गया है कि प्रमाण ज्ञानात्मक ही होता है और ज्ञान में परोक्ष एवं अपरोक्ष का समन्वय होने के कारण व्यावहारिक ज्ञान की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। ज्ञान का अपरोक्ष अंश जब तक विशेषित और पुनर्नियोजित होकर भाषा के द्वारा विकल्प का रूप धारण नहीं करता तब तक वह व्यावहारिक उपयोग में नहीं आता। व्यावहारिक जीवन का उपयोगी और बाह्य जगत् का निरूपक ज्ञान भाषागत विकल्पों के द्वारा ही सम्भव है। जैसे अणु–वीक्षण यन्त्र से दृश्य घट जलाहरण के काम में नहीं आता ऐसे ही क्षणिक निर्विकल्प प्रत्यक्ष भी व्यावहारिक नहीं होता। संघात और संतान को विकल्पित करने वाला ज्ञान ही व्यावहारिक होता है। उसी में प्रवृत्ति–सामर्थ्य के रूप में प्रामाण्य रहता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुभत्र और तर्क–बुद्धि दोनों के समवेत रूप में ही मानव–ज्ञान प्रामाणिक अथवा अप्रामाणिक बन सकता है। दूसरी ओर, जिन कसौटियों से ज्ञान की विषयगत प्रामाणिकता पर विचार होता है उन्हीं से ज्ञान के अपने स्वरूप पर विचार पूरा नहीं हो सकता। यही कारण है कि ज्ञान–तत्त्व के विचारकों को नयी प्रकार की ज्ञान–सरणियों का आविष्कार करना पड़ा। काँट की अतिक्रामी विधि (ट्रांसेंडेंटल मैथड) अथवा हेगल की द्वन्द्वात्मक विधि इसके उदाहरण हैं। नागार्जुन और दिङ्नाग में भी ज्ञान के दार्शनिक विचार का मार्ग उस मार्ग से भिन्न है जिससे सांवृत्त विषयों का ज्ञान होता है। यही स्थिति अद्वैतवेदान्त की है। वहाँ अनुभूति ही अन्तःतत्त्व की दिग्दर्शिका है, अन्यथा सभी तत्त्व मिथ्या ही सिद्ध होते हैं।

जिस प्रकार से जगत् का ज्ञान होता है उस प्रकार से आत्मा का ज्ञान नहीं होता है। किन्तु जगत् का ज्ञान आत्मा के ज्ञान को पूर्वापेक्षित करता है। इस पूर्वापेक्षा को तार्किक विचार की भूमि में सीमित न रख स्वानुभूति के अनुसंधान द्वारा ही जाना जा सकता है। यह उपाय व्यावहारिक जीवन का गम्भीरतम आयाम है।

(क्रमशः)

एम2/4, विश्वविद्यालय परिसर,
विक्रम विश्वविद्यालय,
उज्जैन–456010 (म.प्र.)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषय और विषयी : चिद्गत अर्थोन्मीलन के आयाम

यशदेव शल्य

चेतना सहज स्वभाव से ही अर्थात्मतया प्रवर्तित होती है। ये अर्थ प्रस्तुत होते हुए विषय और इन अर्थों की ओर उन्मुखता इसकी विषयिता कही जा सकती है। चेतना की यह उन्मुखता देह–वृत्ति, इन्द्रिय–वृत्ति, अन्तःकरण–वृत्ति और बुद्धि–वृत्ति का रूप लेती हुई अहंकार–वृत्ति के द्वारा इन्हें एक सावयवता में व्यवस्थित करती है। देह, चक्षु, हस्त–पादादि तथा मस्तिष्क आदि इन वृत्तियों के भौतिक उपकरण अर्थों की भौतिकता के प्रतियोगी रूप से आविर्भूत होते हैं, अथवा कहें, चेतनागत भौतिकताधर्मी अर्थों के प्रति चेतना की उन्मुखता इसके देहेन्द्रियात्मक भौतिक अवतरण की हेतु बनती है। इन विषयों अथवा अर्थों को प्रतिभास भी कहा गया है। तब विषयी को चेतना की वह वृत्ति कहा जा सकता है जिसमें ये विषय–प्रतिभास प्रतिभासित होते हैं। चेतना में घटित इस घटना, या प्रवर्तन, या उन्मेष को विज्ञप्ति और विज्ञप्त अर्थ भी कहा गया है, ग्राहक–ग्राह्य–भाव भी कहा गया है, जो युगपद् रूप से रहते हैं। विषयि–विषय भाव का आद्यतम रूप देहेन्द्रिय–वृत्ति : विषयी : और उसमें दैशिक वस्तु–प्रस्तुति : विषय : रूप में उपलब्ध होता है। दार्शनिकों ने प्रायः चेतना के इसी रूप को विषयि–विषय–भाव के रूप में देखा है। इस वृत्ति में विषय स्वतन्त्र सद्वस्तु रूप में प्रस्तुत होता है, जो वस्तु स्वायत्त रूप से बाह्य देश में रहती है। किन्तु देश इसे इन विषयों के गुण के रूप में ही प्रस्तुत नहीं होता, वह एक अन्य सत्ता के गुण के रूप में भी प्रस्तुत होता है जो युगपद् रूप से इन विषयों और इनके विषयी की धारक बनती है। यह सत्ता जगत् कही जाती है। इस सत्ता को 'विषय' कहना, या विषयों का आश्रय कहना युक्त नहीं होगा। इसे चेतना के देहात्मतया प्रवर्तन का हेतुभूत भाव कह सकते हैं जो युगपद् रूप से देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण और बुद्धि रूप में व्यक्त विषयिता की और उसके विषयों की प्रतिष्ठा बनता है। अवश्य विषयी जगत् का अतिक्रमण भी कर सकता है, किन्तु केवल ऐसा विषयी ही यह अतिक्रमण कर सकता है जो आत्मचेतन होकर अपना भी अतिक्रमण कर सकता है। जगद्भावेन प्रवर्तित विषयी यह नहीं कर सकता।

चेतना के विषयतया, अथवा कहें जगद्भाव से, प्रवर्तन का आद्यतम स्फुट रूप ऐन्द्रिक होता है, किन्तु यह स्फुटता चेतना में क्रमशः ही विकसित होती देखी जाती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस विकास के साथ ही विषयों का रूप-वैविध्य आविर्भूत होता है। एक-ज्ञानेन्द्रियात्मक चेतना और पंच-ज्ञानेन्द्रियात्मक चेतना के, इसी प्रकार कर्मेन्द्रिय-रहित (वानस्पतिक) चेतना और कर्मेन्द्रियात्मक चेतना के, और पुनः सींग, नख-दन्त आदि युक्त और इनसे रहित किन्तु अंगुलियों से युक्त चेतना के विषयों के रूप में, अथवा कहें इनके विषय-जगतों में, अन्तर होना अनिवार्य है। इन ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का नियामक अन्तःकरण होता है, जो इन्हें विषय की एकता में एकीकृत करता है। इन्द्रियों को अन्तःकरण का ही विषयोन्मुख प्रसरित आयाम भी कह सकते हैं। ये 'आन्तर' और 'बाह्य' विशेषण देशवाची हैं और देश स्वयं अन्तःकरण और इन्द्रियों के जगद्भाव से क्रियान्वयन के क्रम में आविर्भूत होता है। इस बाह्यतः प्रवर्तन के लिए चेतना देहाधिष्ठित होती है, जो देह युगपद् रूप से दैशिक और इसे प्रस्तुत विषयों की दैशिकता की हेतु होती है। ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ इसी को आश्रित करती हैं और अन्तःकरण के बाह्योन्मुख प्रवर्तन में इसकी उपकरण बनती हैं।

देह वैयष्टिक होती है, जो व्यष्टिता चेतना में अहंकार वृत्ति से अस्मद्भाव और कर्त्तृभाव तथा ज्ञातृभाव के रूप में उदित होती है। ये भाव अनात्मचेतन चेतना में आत्मविदित नहीं रहते, किन्तु अतिक्रामी रूप[1] से उसमें जगद्भाव की सिद्धि के क्रम में देह और अन्तःकरण के हेतु बनकर उसे देहात्मतया कर्त्तृ और भोक्तृ रूप में नियोजित करते हैं। देहात्म वृत्ति के रूप में यह देह देशगत विषय-जगत् की नियोजक केन्द्र बनती है।[2] यह विषय-जगत् बाह्य देश में बाह्य वस्तु-सत् के रूप में प्रस्तुत होता है। इस प्रकार स्वायत्त वस्तुता इस विषय का स्वरूप-धर्म होती है। इसके अनुसार इस विषयता के याथार्थ्य के कुछ अपने नियम होते हैं—जैसे, ये विषय बाह्य देश में देह से पृथक् और अन्य इन्द्रिय-विषयों से परस्परतः पृथक् दैशिक सम्बन्धों के साथ अवस्थित होते हैं एवं परितः प्रेक्ष्य, सबके लिए प्रेक्ष्य, अस्वचालित, किंचित् काल-स्थायी आदि स्वभावान् होते हैं। इस प्रकार विज्ञप्तियों में अवभासित अर्थ विज्ञप्ति मात्र नहीं होते बल्कि उसी प्रकार चिद्गत भौतिक सत् होते हैं जिस प्रकार विज्ञप्तियाँ चिद्गत विज्ञप्ति-सत् होती हैं। इस प्रतिपादन को कुछ लोग चतुराई कह सकते हैं, किन्तु ऐसा कोई तभी कह सकता है यदि वह इस प्रतिपादन का सम्यक् अर्थ नहीं समझता। यहाँ हम इसका स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न करेंगे।

वसुबन्धु ने विज्ञप्तिगम्य अर्थ : विषय-सत्ता : को विज्ञप्ति में ही अन्तर्भूत करने में यह युक्ति दी है कि इसका वर्ण, आकार, ठोसपन, देशावस्थिति आदि विज्ञप्तिगत गुण ही होते हैं, उससे स्वतन्त्र कुछ नहीं होते। किन्तु ये गुण भिन्न-भिन्न इन्द्रियाश्रित विज्ञप्तियों के विज्ञप्त होते हैं, जबकि अवभासित अर्थ में ये सब : विभिन्न इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य विभिन्न गुण : एकत्र व्यवस्थित होकर अपने से अतीत सत्ता के गुणों के रूप में गृहीत होते हैं। इस प्रकार ये अर्थ विज्ञप्ति मात्र तो नहीं ही होते।[3] यदि कहें कि अन्तःकरण इन्हें यह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऐक्य देता है जिसे काँट यूनिटी ऑफ अप्पर्सेप्शन कहते हैं, तो प्रश्न होगा कि अन्तःकरण यह ऐक्य-विधान तो कर सकता है किन्तु इस ऐक्य से वस्तु-विधान कैसे कर सकता है? विज्ञप्तिगत ऐक्य दीवार का दृष्टिगत पक्ष तो दे सकता है, पर उसका दृष्टि से ओझल पक्ष कैसे दे सकता है, जो कि दीवार के दीवार होने के लिए उसके वर्णयुक्त और ठोस होने जितना ही अनिवार्य है? अवभासित अर्थ की यह परिप्रेक्ष्यात्मकता : दृष्टि-अगत पक्षों की दृष्टिगत पक्षों के समान ही अस्तित्ववानता : उसमें पूर्वगृहीत स्वधर्म रूप से रहती है। निश्चय ही ऐसे विषय भी होते हैं जो इसी प्रकार भासित होते हैं किन्तु वस्तुतः ऐसे नहीं होते, जैसे स्वप्न के विषय, किन्तु इन विषयों की अयथार्थता उनमें यथातथ अर्थों के पूर्वगृहीत स्वधर्म की अपूर्ण उपलब्धि में ही रहती है। काँट, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने इस पूर्वग्रह के स्वरूप को देखा था किन्तु इसे समझने में वे असमर्थ रहे। निश्चय ही विषयों या अर्थों की यथार्थता विषयी से उनकी स्वतन्त्र सत्ता को अनिवार्यतः पूर्वगृहीत करती है, किन्तु यह यथार्थता चिद्गत वस्तुभाव में अतिक्रान्ततया (ट्राँसेंडेंटल रूप में) निहित रहती है। इस चिद्गत वस्तु-भाव का मूल चित् के जगद्भाव से प्रवर्तन में रहता है। इस बात को *ईशावास्योपनिषद्* के शब्दों में, जिनका वहाँ लगभग विपरीत अभिप्राय है, सम्यक् रूप से इस प्रकार कहा जा सकता है—"परिभूः स्वयंभूः याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः"—यह परिभू स्वयंभू चित् जगद्भाव से प्रवर्तित होकर विभिन्न जीव-जातियों और तदन्तर्गत व्यष्टियों के रूप में विषयी और उनके विषय बनता है और उन विषयों को उनके अपने-अपने याथातथ्य में प्रतिष्ठित करता है।

यहाँ कहा जा सकता है कि 'वसुबन्धु द्वारा ग्राह्य-ग्राहक भाव के मिथ्यात्व-प्रतिपादन में भी विषय की इस वस्तुता का निषेध अभिप्रेत नहीं है और न काँट द्वारा विषय की वस्तुता को प्रागनुभविक अतिक्रामिता (ट्राँसेंडेंटल अ-प्रायराई) में अन्तर्भूत करने में इसका निषेध अभिप्रेत है', उन्हें केवल वस्तु की वास्तवता की अतिसत्ता (ट्राँसेंडेंटनेस) का अस्वीकार ही अभिप्रेत है, तो हम कहना चाहेंगे कि उस अवस्था में वसुबन्धु द्वारा अर्थों को असत् कहने और काँट द्वारा अतिसत् स्वलक्षण वस्तु (ट्राँसेंडेंट थिंग इन इट्सेल्फ) को विषयाधार के रूप में देखने का भी कोई औचित्य नहीं रह जाता। हम जो देख रहे हैं वह *तैत्तिरीय उपनिषद्*[4] के 'एकोऽहम् बहुस्याम्' के अनुरूप है, जिसमें एक चित्-सत् युगपद् रूप से विषयी और विषय होता है और यह विषय यथार्थ वस्तु होता है। हमारे प्रतिपादन के औचित्य को देखने के लिए विषयिता के ऐन्द्रिक स्तर से उत्तरतर स्तर : बुद्धिग्राह्य अतीन्द्रियता के स्तर : को देखना उपयुक्त होगा।

इस विषयिता के विषयों को सहज रूप से ही लोग, और प्रायः सब दार्शनिक भी, 'कल्पनाएँ' ही मानते हैं, क्योंकि इनकी अवस्थिति बाह्य देश में नहीं होती, और इसी पूर्वग्रह के कारण ये बाह्य विषयों : अर्थों : को भी वस्तुतः अबाह्य दिखाकर उन्हें असत्

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कहते हैं। किन्तु गोत्व आदि जातियाँ और घटत्व, काव्यत्व, दर्शनत्व, कर्त्तव्य, धर्म, सद्-श्रेयस्, संस्थाएँ, संस्कृतियाँ आदि विभिन्न स्तरीय प्रत्यय, ये सब भी विषय होते हैं जिन की वास्तवता-याथार्थ्य के अपने निकष होते हैं। प्लेटो ने इन्हें ही वास्तव देखा था और इन्द्रिय-विषयों को अवास्तव देखा था, जो उतना ही अयुक्त है जितना इन्द्रिय विषयों को वास्तव और बुद्धि-ग्राह्य अतीन्द्रिय विषयों को अवास्तव : विकल्प : देखना। वास्तवता-अवास्तवता की यह धारणा जगद्भाव से प्रवर्तित जैव प्रवृत्तिमूलक है, अन्यथा इसके लिए कोई युक्ति नहीं है। उदाहरणतः जैव जाति इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होती किन्तु उतनी ही वास्तव होती है जितनी व्यष्टि-देह। किन्तु वास्तवता विषयक इसी पूर्वग्रह के कारण दार्शनिकों ने जाति को वास्तव नहीं माना और नैयायिकों ने माना तो उसे प्रत्यक्षगम्य कहकर। अब जो जाति की ही वास्तवता नहीं देख सकते वे प्रत्ययों की वास्तवता कैसे देखेंगे?

दार्शनिक प्रायः ऐन्द्रिय विषयों से ही निगृहीत रहे हैं और उन्हीं को वास्तवता का मानदण्ड मानकर उनके ग्राहक चिद्व्यापार तक को कल्पना, आरोप, अध्यास आदि मानते रहे हैं, और जिन्होंने इन विषयों को भी चिद्व्यापार ही पाया, उन्होंने इन्हें भी काल्पनिक और असत् कह दिया। अब, इन्द्रियाँ व्यष्टियों को ही विषय करती हैं, इसलिए जिन्होंने इनके विषयों को सत् माना उन्होंने उन जातियों को सत् मानने से इन्कार कर दिया जो व्यष्टियों की सम्भावना के रूप में चिदुदधि या आलय चेतना में प्रत्यय रूप में रहती हैं। ये जातियाँ वैयष्टिक देहेन्द्रियों के समान ही विषयी भी होती हैं और वैयष्टिक विषयिताओं में ही अतिक्रामी निर्धारक रूप में व्यक्त होती हैं। जैसे सुरेश और रमेश की विषयिता परस्पर व्यावर्तक रूप में वैयष्टिक होती है किन्तु श्वानों की विषयिता की व्यावर्तक के रूप में ये दो विषयिताएं जातीय रूप से एक भी होती हैं। काँट जब विषय-स्वरूप-निर्धारक कोटियों (केटेगरीज़ ऑफ अंडरस्टैंडिंग) की बात करते हैं तब रमेश और सुरेश की कोटियों की बात नहीं करते, जो कोई भी नहीं कर सकता, वे मानव-जातीय विषय-स्वरूप-निर्धारक कोटियों की बात ही करते हैं, जो कि रमेश और सुरेश दोनों के लिए समान हैं। किन्तु द्रष्टव्य है कि इसके बावजूद वे प्रत्ययों और जातियों की वास्तवता स्वीकार नहीं करते।

अब तक हमने विषयी और विषय की जो चर्चा की उसमें विषयी को विषयोन्मुख पाया। विषयी को ज्ञाता और विषय को ज्ञेय भी कहा जाता है। यह विषयी अपने को नहीं जानता, केवल विषय को जानता है, ऐसा कहा जाता है। उपनिषद् ने कहा है—ज्ञातारं रे केन विजानीयात्? उसके अनुसार, वह आँख से देखता है किन्तु आँख उसे नहीं देख सकती, अपने को भी नहीं देख सकती। अवश्य वेदान्त में इस ज्ञाता को प्रत्यगात्म और अविषय कहा गया है, किन्तु इस पर अपेक्षित विचार किया गया नहीं दिखायी देता। यहाँ हम इस पर विचार करने का प्रयत्न करेंगे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जैसाकि अब तक के हमारे विवेचन से स्पष्ट है, यह ज्ञाता विषयी आत्मचेतन नहीं होने पर प्रत्यगात्म नहीं होता, यह पराङ्मुख ही होता है और बहुत कुछ परागात्म भी होता है। इसका आत्मभाव देह तक सीमित होता है, जिसे केन्द्र कर यह आत्म–पर का भेद करता है, किन्तु इस आत्म (देहात्म) को भी वह 'जानता' नहीं है, क्योंकि यह जानने के लिए उससे परावर्तन और इस प्रकार प्रत्यक्ता अनिवार्य है। वह अपनी देह को भी आत्म रूप में : अपनी देह के रूप में : 'जानता' नहीं है, इसका प्रमाण यह कहा जा सकता है कि वह दर्पण में अपने बिम्ब को 'अपने बिम्ब' के रूप में नहीं पहचानता। इस प्रकार यह पराङ्मुख विषयी नितान्त अविषय ही रहता है। शंकर ने *ब्रह्मसूत्र भाष्य* के आरम्भ में अध्यास की बात करते हुए विषयी के लिए कहा है—नायमेकान्तेनाविषयः, अहं–प्रत्ययगोचरत्वात्। किन्तु यह आत्मा आत्म–प्रत्यय–गोचर कैसे होता है और इस गोचरता का क्या अर्थ है? फिर जिसे वे अनिषेध्य आत्मा कहते हैं वह यह गोचर आत्म है या अगोचर अविषय आत्म? इस सबके बारे में वे कुछ नहीं कहते, क्योंकि उनके सम्मुख ये प्रश्न ही नहीं हैं। किन्तु ये ऐसे आधारभूत प्रश्न हैं जिनकी ओर उनका ध्यान जाना चाहिए था।

चेतना के लिए आत्म उसके आत्मचेतन होने पर ही प्रत्यय–गोचर होता है। चेतना का यह आत्मचेतन होना उसका पराङ्मुख से प्रत्यङ्मुख होना है, जो होने पर वह अपनी विषयिता का उच्चतर विषयिता में उत्क्रमण करती है और इस विषयिता को विषय बनाती है। यह उत्क्रमण उसके देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण और बुद्धिगत आत्म को भी विषयी के साथ विषय भी बना देता है। इससे यह चेतना देह के द्वारा जगत् में आत्म–प्रतिष्ठ होती है, किन्तु वह देह को अपनी देह के रूप में भी देखती है और दैशिक विषय के रूप में भी देखती है। ऐसा ही इन्द्रियों, आवेगों–अनुभूतियों, भावनाओं और विचारों के लिए भी होता है, जो विषयिताएँ हैं किन्तु इस उत्क्रामी विषयिता के लिए विषय भी हो सकती हैं।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि ये विभिन्न विषयिताएँ और इनसे समवाय सम्बन्ध से संयुक्त आत्मभाव इन सब विषयिताओं को एक आत्मभाव में कैसे समाहित कर पाता है? यह आत्मभाव अनात्मचेतन चेतना में भी लक्षित होता है जो उसके देह और इन्द्रियों की आवयविकता में अपने को व्यक्त करता है। इसे एक गुह्यतम रहस्य कहा जा सकता है कि चेतना में यह कैसे आविर्भूत होता है। किन्तु यह चेतना के प्रवर्तन की पूर्वापेक्षा है, क्योंकि इसके बिना कोई जैव क्रिया नहीं हो सकती—गाय गोत्व में और गोत्व जीवत्व में प्रतिष्ठित है और ये चेतना के जगद्भाव में प्रवर्तन के उतने ही वास्तव धर्म हैं जितना गाय व्यष्टि, किन्तु ये धर्म गाय–व्यष्टिता में निष्पन्न हुए बिना अर्थ–क्रियाकारी नहीं हो सकते। मूल जैव धर्म : संवेदन : जीवत्व और गोत्व दोनों स्तरों की धर्मिताओं के साथ व्यष्टि–गायों में विशिष्ट होता है और इसी वैशिष्ट्य के साथ वह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

देह-धारण करता और गाय का 'आत्मा' बनता है। इस प्रकार यह कहना कि गाय का व्यष्टि-रूप में ही अस्तित्व है, ठीक नहीं होगा, किन्तु यह ठीक है कि प्राण के प्रवर्तन के लिए इन सामान्यताओं को व्यष्टि-विशिष्ट होना होता है और यह व्यष्टि-वैशिष्ट्य विशिष्ट अस्मिता-भाव युक्त होता है। किन्तु यह वैशिष्ट्य भी आत्यन्तिक नहीं होता—बहुत से कृमि-कीटों में यह मात्र देह-पर्यन्त ही होता है, चित्त के स्तर पर ये निर्वैयष्टिक : जातीय : ही होते हैं, जबकि अन्य अधिकांश कृमियों में यह मन (आवेग) और बुद्धि (उपाय-बुद्धि) पर्यन्त होता है। आत्म-प्रत्यय का स्तर यह केवल आत्मचेतन चेतना में ही प्राप्त करता है, जो चेतना प्रत्यगात्म होकर आत्मा को प्रत्यय-गोचर बना सकती है। यह चेतना एक-साथ विषय की ज्ञापक और विषयी की प्रकाशक होती है और इस प्रकार इस विषयिता के विषय हो सकने की सम्भावनाओं से गर्भित रहती है।

चेतना की विषयिता में यह उत्क्रामिता एक ओर विषयों को अपार और अनवगाह्य याथातथ्य देती है और दूसरी ओर उन्हें उनकी स्वप्रतिष्ठ वस्तुता देती है। यह हम दैशिक विषयों में अधिक सहज रूप में देख सकते हैं, जो इस चेतना के लिए भौतिक वस्तुओं में रूपान्तरित हो कर उपादेय अर्थों से गर्भित उपादान बन जाते हैं और अपने स्वतन्त्र याथातथ्य से मण्डित होकर विज्ञान के गवेष्य हो जाते हैं। परिभू-स्वयंभू चेतना गाय के लिए घास को केवल भक्ष्यता का याथातथ्य देती है जबकि मनुष्य के लिए इसके याथातथ्य की कोई थाह नहीं होती। इन्द्रियमूलक विषयता में इस आमूल भेद से कहीं अधिक मूलगामी भेद विषयता के सर्वथा नये आयामों के आविर्भाव में लक्षित होता है। ऊपर जैसा कि हमने देखा, यह चेतना सर्वाधिक मूलगामी रूप से भिन्न जिस विषय की ज्ञापक बनती है वह है आत्मा, जो इस इन्द्रियगम्य लोक से कहीं अधिक गहन और विशाल अर्थराशियों के लोकों को प्रकट करती है। ईश्वर, देवता, स्वर्ग-नरक आदि मृत्यूपरान्त के आवास, कर्त्तव्याकर्त्तव्य बोध तथा तन्मूलक समाज, सद्-असद्, ये सब आत्म प्रत्यय : विषय रूप में ज्ञेय आत्मा : की ही अन्तर्गर्भ अर्थ-राशियाँ हैं। और यदि थोड़ा और गहराई से देखें तो संस्कृतियों-सभ्यताओं के अपार विस्तार भी इसी के अर्थों के अवगाहन और चरितार्थन के रूप हैं। इन अर्थों का ग्रहण इन्द्रियार्थों के समान ही सत्य, मिथ्या और सम्यक्-असम्यक् होता है, केवल इसका निर्णय वैसा सहज नहीं होता। इसी प्रकार ये परिप्रेक्ष्यात्मक भी होते हैं। इनकी परिप्रेक्ष्यात्मकता और सत्य-मिथ्यात्व आदि कैसे होते हैं इसे एक उदाहरण से देखना उपयुक्त होगा। नीत्शे के अनुसार, "धर्म-बोध (नैतिकता) व्यक्ति में एक समूहपरक प्रकृत बोध है (मॉरेलिटी इज़ दि हर्ड इंस्टिंक्ट इन दि इंडिविडुअल)।" अब यह धर्म-बोध विषयक वैसा ही भ्रम है जैसा सर्प-रज्जु-भ्रम, यदि धर्म-बोध को मनुष्यता का व्यावर्तक लक्षण मानें तो, जैसा कि मानना युक्त है। किन्तु इसका युक्त स्वरूप देख लेने पर भी इस विषयक अनेक दृष्टियाँ हो सकती हैं—हैं ही। इस प्रकार इन अर्थों का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सत्ता-स्वातन्त्र्य इन्द्रियार्थों से अधिक ही ठहरता है, केवल इनकी सत्ता दैशिक नहीं होने से हम उन्हें व्यक्ति-मनोमूलक कल्पनाएँ या भाषा-रूढ़ कल्पनाएँ (विकल्प) मान लेते हैं। यदि ऐसा हो तो इनको लेकर मतभेद और परम्पराएँ नहीं बन सकतीं।

इस प्रश्न पर थोड़ा आगे विचार अपेक्षित है—ऊपर हमने देखा कि अर्थों की अर्थता उनके प्रस्तुत होने मात्र में होती है। उदाहरणत: स्वप्नगत अर्थ अथवा भ्रान्तिमूलक अर्थ उतने ही 'अर्थ' होते हैं जितने जागृतिमूलक और निर्भ्रान्त अर्थ। किन्तु विचित्र बात है कि जागृतिमूलक और क्रियाकारी इन्द्रियार्थ भी दार्शनिकों द्वारा मिथ्या कहे गये हैं और बहुत बार जनसाधारण भी प्रथमत: यथातथ रूप में दृष्ट अर्थों को अनन्तर अयथातथ पाते हैं, जैसे छेद वाले बर्तन का छेद नहीं देख पाना, भला दीखने वाले व्यक्ति का पीछे भला सिद्ध नहीं होना। किन्तु यथार्थ इन्द्रियार्थों का मिथ्या ख्यापित रूप उनका रूपान्तरित रूप होता है जो विषयिता के स्तरान्तर का द्योतक होता है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि अर्थों के सत्य और असत्य का भेद पाशव ग्रहणों में भी रहता है और इस भेद को पशु 'जानते' हैं, किन्तु वहाँ उस भेद की गहराई और व्यापकता अत्यल्प रहती है—उतनी मात्र जितनी बौद्ध दार्शनिक अर्थ- क्रियाकारित्व में देखते हैं : जल रूप में दृष्ट अर्थ की प्यास बुझाने की क्षमता में। किन्तु आत्मचेतन चेतना के दृष्ट विषयों के सत्यत्व-असत्यत्व, याथार्थ्य-अयाथार्थ्य की सीमा और गहराई का कोई अन्त नहीं होता। उदाहरणत: दार्शनिक जागृति में सत्य देखे जाने वाले विषय मात्र को भी विकल्पित कहते हैं और वैज्ञानिक विषयिनिष्ठ। यहाँ द्रष्टव्य है कि दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के ये विषय ऐन्द्रिक विषय मात्र नहीं होकर ऐन्द्रिकता से उच्चतर स्तर की विषयिता के विषय होते हैं। सर्वप्रथम तो यही द्रष्टव्य है कि हम इन्द्रियों द्वारा जो भी देखते हैं वह मात्र ऐन्द्रिक नहीं होता : काँट की अंडर्स्टैंडिंग की किसी केटेगरी में घट, पट, भवन आदि नहीं आते, क्योंकि ये वास्तव में इन्द्रियगोचर होते ही नहीं। ये घटत्व-पटत्वादि प्रत्ययों के व्यंजक होते हैं। दार्शनिकों ने इन्द्रियगोचर विषयों के इस पक्ष की ओर ध्यान ही नहीं दिया। ये विषय उन्नततर विषयिताओं के द्वारा ही दृष्ट होते हैं, जिन विषयों की सत्यता-असत्यता, याथातथ्य-अयाथातथ्य का अवगाहन उतना ही दुस्तीर्य होता है जितनी इनकी विषयिताओं की उन्नतता।

इन सब अतीन्द्रिय विषयों को अधिकांश दार्शनिकों ने मनोकल्प-अवास्तव कहा है। जिन्होंने नहीं कहा है उनके ऐसा नहीं कहने का कारण और भी गहरी भ्रान्ति है। ये सब दार्शनिक ऐन्द्रिक प्रस्तुति को सत्य का आधार और चेतना की अन्य वृत्तियों में प्रस्तुति को कल्पनात्मक मानते हैं। इस प्रकार सम्मुख प्रस्तुत घट सत्य है यदि वह स्पर्श के लिए ठोस है, यदि वह जल धारण कर सकता है, यदि वह दूसरों को भी लगभग वैसा ही दिखायी देता है जैसा एक को, आदि। किन्तु तब वे विचार के बाद पाते हैं कि घट विषयक ये सब अपेक्षाएँ इन्द्रियग्राह्यता का अतिक्रमण करती हैं, ऐन्द्रिक प्रदत्तता में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वप्नगत और जागृतिगत प्रस्तुतियों में कोई भेद नहीं किया जा सकता, इसलिए जागृतिगत प्रस्तुतियाँ भी वैसी ही हैं जैसी स्वप्नगत। उन प्रस्तुतियों के आधार पर सर्वतोदृश्य और दर्शन-निरपेक्ष सत् (ट्राँसेंडेंट—स्वायत्त) वस्तु की बात अयुक्त है। इस परिस्थिति को समझने का सारा प्रयत्न पाश्चात्य दर्शन-परम्परा में डेकार्ट से लेकर काँट तक और काँट से लेकर हेगल-शॉपेन्हावर तक देखा जा सकता है। भारतीय दर्शन में इस प्रयत्न की वैसी कोई परम्परा नहीं है किन्तु यह सब ऊहापोह लगभग वैसी ही पदावली में हमारे यहाँ भी देखा जा सकता है। किन्तु हमारे यहाँ बाह्य जगत् को जिस प्रकार मिथ्या कहा गया है वैसा पश्चिम में नहीं कहा गया, यद्यपि वैसा आपादन पश्चिमी दर्शन में स्पष्ट देखा जा सकता है। इस सबके मूल में यह पूर्वग्रह है कि ऐन्द्रिय प्रस्तुतियाँ भी उसी प्रकार चैत्त प्रस्तुतियाँ ही हैं जिस प्रकार विचार आदि हैं, अन्तर केवल विषयिता, या कहें चित्त, के रूप का है।

यहाँ हम इस प्रश्न पर पुनः आरम्भ से विचार करने का प्रयत्न करेंगे—जागृति का जगत् अपने स्वतन्त्र लक्षणों और नियमों के साथ दिखायी देता है, स्वप्न के जगत् के समान वह जागने पर बाधित नहीं होता। ये लक्षण और नियम वैयक्तिक या सामूहिक रूप से व्यवहार के लिए अपनालिये गए नियम नहीं हैं। अवश्य इन्हें मानवीय चेतनागत अतिक्रान्त नियम कहा जा सकता है, किन्तु इनका एक आधार रूप जीव मात्र में भी देखा जा सकता है। स्वप्न का जगत् इन लक्षणों-नियमों के अपनी सम्पूर्णता में वहाँ नहीं मिलने के कारण ही असत्-प्रतीति कहा जाता है जिनके आधार पर यह सिद्ध होता है कि जागृति का जगत् सत्य है। हमारे कुछ दार्शनिक : महायानी बौद्ध और शांकर वेदान्ती : इसके विरुद्ध तर्क देते हैं कि जैसे नींद से जागने पर स्वप्नगत जगत् बाधित हो जाता है उसी प्रकार जगद्भाव से मुक्त होने पर, ब्रह्म-दर्शन होने, आत्मानात्म-विवेक होने, अथवा प्रतीत्यसमुत्पाद का साक्षात्कार होने पर, यह जागृति का जगत् भी बाधित हो जाता है। किन्तु यह बात स्पष्टतः ग़लत है। ऐसे सब ज्ञान हो जाने पर भी दृश्य जगत् वैसा ही दिखायी देता है। ब्रह्मज्ञानी सामने खड़ी दीवार को मिथ्या मान कर निर्बाध आगे नहीं जा सकता। पानी में खड़ी सीधी छड़ी के उसके सीधी होने का ज्ञान होने पर भी टेढ़ी दिखाई देने के उदाहरण से भी इसका प्रतिवाद नहीं किया जा सकता क्योंकि उस 'दिखाई देने' में ऐन्द्रिक विषय की वास्तवता के सब लक्षण-नियम नहीं पाये जाते। उसके टेढ़ेपन की अवास्तवता उसी प्रकार सिद्ध होती है जिस प्रकार स्वप्न-दृष्ट विषयों की अवास्तवता सिद्ध होती है। इन विषयों-वस्तुओं की वास्तवता की प्रतिष्ठा जगत् की वास्तवता में प्रतिष्ठा में होती है।

यहाँ द्रष्टव्य है कि जगत् का याथार्थ्य, उसकी वास्तवता, बाह्य दृष्ट व्यष्टि-वस्तुओं की वास्तवता से भिन्न प्रकार की होती है। जगत् न पत्थर की तरह दिखायी देता है और न वह उसकी तरह स्पर्श-गम्य ही होता है। वह नागसेन के रथ (द्रष्टव्य *मिलिंद प्रश्न*)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की तरह इन्द्रियगम्य वस्तुओं से भिन्न इन्द्रियागम्य ही होता है, जैसे नागसेन की ज़िद्द के बावजूद वह रथ, जिस पर मिलिंद बैठकर आया था, इन्द्रियागम्य था। रथ रथ–प्रत्यय का भौतिक उपादान में अवतरण है, जो प्रत्यय चक्र–धुरी आदि को अवयवों के रूप में व्यवस्थित और संयुक्त कर अवयवी के रूप में सत्ता में प्रतिष्ठित होता है। इसी प्रकार जगत् चेतना में जगद्भाव का : इसे आप जगत्–प्रत्यय भी कह सकते हैं : देहेन्द्रियात्मक विषयिता और उसके विषयों के अवयवी के रूप में अवतरण है। इन्द्रियगम्य पहिये और धुरे आदि रथ के अवयवों के रूप में ही पहिया और धुरा होते हैं, इसी प्रकार घट और पट भी घटत्व और पटत्व प्रत्ययों के मिट्टी और रूई के उपादानों में अवतरण हैं, उपादान भूत मिट्टी और रूई भौतिक वस्तु में उपादान–प्रत्ययों के अवतरण हैं, और इन प्रत्ययों के अवतरण की वास्तवता से ही ये जल–धारण और देह ढँकने के साधन बनते हैं। कि ये दृक् और त्वक् के विषय नहीं हैं, काँट की अंडर्स्टैंडिंग की कोटियों के विषय नहीं हैं इसलिए ये कल्पनाएँ मात्र हैं—नाम–रूप मात्र हैं, इसका कोई अर्थ नहीं बनता, क्योंकि इनके होने का, इनके याथार्थ्य का स्वरूप ही ऐसा है। जगत् दैहिकता में अधिष्ठित बुद्धि, अहंकार, मन, अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की संयुक्त विषयिता का विषय होता है और इस विषयी के विषय के अर्थों के आश्रय के रूप में यह तब यथार्थ होता है जब ये अर्थ सिद्ध होते हैं। जब ये बाधित होते हैं तब यह मिथ्या होता है। इन अर्थों की सत्यता के लिए काँट के समान किसी इन्द्रियाग्राह्य पर–वस्तु की, या दिङ्नाग के समान स्वलक्षण वस्तु की अपेक्षा करना और उसके नहीं होने पर उन्हें और जगत् को मिथ्या कहना, इसका कोई औचित्य नहीं है।

(किन्तु तब भी ब्रह्म–ज्ञान या संबोधि सिद्ध हो जाने पर जगत् का मिथ्यात्व प्रकट होता है, इसमें सन्देह नहीं। ऐसा नहीं हो तो 'ब्रह्म–ज्ञान' और 'संबोधि' का कोई अर्थ ही नहीं बनता। यह मिथ्यात्व एक प्रकार से उसी तरह का होता है जैसा जागने पर स्वप्न–दृष्ट विषयों का होता है। अन्तर केवल यह होता है कि स्वप्न–विषयों में अस्तित्वात्मक अर्थों की अपूर्णता प्रकट होने से उनके अस्तित्व का बाध होता है और संबोधि से जगद्भाव के मूल्यात्मक अर्थों की अपूर्णता, अथवा उनका पूर्ण अभाव, प्रकट होने से उनका बाध होता है। चेतना का जगद्भाव से प्रवर्तन वस्तुओं के अस्तित्व की अभीप्सा से नहीं होता है, 'कामना' (मूल्य) से होता है, जिसे उपनिषद् ने व्यंग्यात्मक पदावली में 'बहु होने की कामना' कहा है। किन्तु उपनिषद् ने नारद के माध्यम से यह भी कहा है कि उसे सब विज्ञानों, कलाओं और शास्त्रों का ज्ञान है। यह ज्ञान उनमें उस अर्थ का अभाव प्रकट नहीं करता जो इन शास्त्रों और कलाओं आदि के रूप इनमें हैं। इन शास्त्रों का अस्तित्व और अभिप्रेत अर्थ दोनों की विद्यमानता वहाँ स्वीकृत है। किन्तु नारद उस अर्थ की खोज में उनकी ओर नहीं गए थे। इसी प्रकार गार्गी धन–धान्य सौंपे जाने पर उन्हें लेने से इसलिए इन्कार नहीं करती कि ये नाम–रूप कल्पनाएँ मात्र हैं, देश–कालगत वास्तव पदार्थ नहीं हैं, कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा ग्राह्य स्वलक्षण वस्तुएँ नहीं होकर विकल्प मूलक अयथार्थ वस्तुएँ हैं, वह उन्हें लेने से इसलिए इन्कार करती है

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

क्योंकि वह उनमें उस अर्थ का अभाव पाती है जो अर्थ ब्रह्म-भाव में जागने पर उसे पता चला कि वास्तव में एकमात्र वही गवेष्य है, ये अर्थ गवेष्य नहीं हैं। धन-धान्य आदि मूलतः इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तुएँ हैं और उस रूप में वे असन्दिग्ध रूप से हैं, तदतिरिक्त, ये मूल्यवान् वस्तुएँ भी हैं और उसी रूप में उसे ये दी जा रही थीं। किन्तु इस दूसरे रूप में ये उसे मिथ्या दिखाई दीं। जगत् भी इस दूसरे रूप में ही मिथ्या होता है, प्रथम रूप में नहीं। माध्यमिकों और वेदान्तियों ने यह नहीं देखा। वे इसका मिथ्यात्व इनमें अस्तित्वात्मक दोष दिखाकर सिद्ध करने में लगे रहे। नागार्जुन का शून्यवाद, वसुबन्धु का विज्ञानवाद और शंकर का अध्यासवाद इसी व्यामिश्र के द्योतक हैं।)

यहाँ द्रष्टव्य है कि हमने घटत्व आदि प्रत्ययों को काष्ठ, पत्थर आदि के समान ही सत्ता दे दी है, जबकि इन्हें प्लेटो और हेगल के अतिरिक्त पाश्चात्य दर्शन में भी कोई सत् नहीं मानता और प्लेटो काष्ठ आदि को सत् नहीं मानते। सर्वप्रथम यहाँ प्लेटो से हमारा भेद समझना आवश्यक है, जो कि मूलगामी है। वह इसी से समझा जा सकता है कि हमारे लिए काष्ठ आदि भी सत् हैं, केवल इनमें सत्ता का प्रकार-भेद है—प्रत्यय बुद्धि-ग्राह्य अर्थ हैं और काष्ठ आदि और घट आदि इन्द्रिय-ग्राह्य। दूसरा महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि प्लेटो के लिए उद्गृहीत सामान्य और प्रत्यय में कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार उनके लिए पंकत्व-वार्द्धक्य तथा घटत्व, धर्माधर्म और सदसद् आदि एकसमान हैं। हमारे अनुसार पंकत्व आदि पंकों में दृष्ट समानता के उद्ग्रहण का शब्दायित रूप हैं जबकि घटत्व आदि बौद्धिक चेतना में उसी प्रकार उन्मीलित अर्थ हैं जिस प्रकार काष्ठ आदि दैहिक-ऐन्द्रिक चेतना में उन्मीलित अर्थ। यहाँ कहा जा सकता है कि काष्ठ, घट आदि की सत्ता हमने अतीन्द्रिय-अतिक्रामी जगद्भाव में मानी है, तब क्या हम प्रत्ययों की सत्ता भी उसी प्रकार अतीन्द्रिय-अतिक्रामी जगद्भाव में मानेंगे? इसका उत्तर है कि प्रत्ययों की सत्ता भी अतिक्रामी चित् में ही होती है जो मानव-बुद्धि की विषयिता के विषय-रूप में ग्राह्य बनते हैं। दार्शनिकों में यह केवल लोक-बुद्धि का अनुसरण है जो वे ऐन्द्रिक विषयिता के विषयों को, उनकी बाह्य देश में अवस्थिति और ठोसपन के कारण, सत् और इन लक्षणों से रहित प्रत्ययों को कल्पना मानते हैं। किन्तु जीव-जातियों को लें—मनुष्य, श्वान, अश्व आदि। निश्चय ही ये व्यष्टितया भी होते हैं, जैसे राम, श्याम आदि, किन्तु इनकी देह-रचना, मनोरचना, बुद्धि-रचना में आधारभूत ऐक्य होता है जिसे जाति-गुण कहा जाता है। यह जाति देश-कालात्मक अस्तित्व नहीं है यद्यपि यह अस्तित्व देश-कालात्मक व्यष्टियों में अवतरित होता है। इस वैयष्टिक अवतरण को जातीय अस्तित्व का एक अनिवार्य धर्म भी कहा जा सकता है जिसके बिना यह अस्तित्व सम्भावनात्मक मात्र रहता है। ये जातियाँ आलय चेतनागत, या आलय बुद्धिगत ही कहें, प्रत्यय ही कही जा सकती हैं। यह प्रकृति भी एक अतिजैव, अतिभौतिक, व्यापकतर प्रत्यय ही कही जा सकती है और जगद्भाव का अतिक्रामी मूल कही जा सकती है, जिसके अन्तर्गत जातियाँ और व्यष्टि अवरतर विषयि-विषय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रत्यय–रूपों में उन्मीलित होते हैं। इन जातियों में अधिकांश व्यवहार वैयष्टिक कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जातीय रूप से ही घटित होते हैं, जैसे मधुमक्खियों में छत्ता, मधु–संचय आदि और पक्षियों में घोंसला–निर्माण आदि। बया का घोंसला गौरैया के घोंसले से भिन्न प्रकार का होता है और मधुमक्खी का छत्ता दीमक की बांबी से भिन्न प्रकार का होता है और वे व्यष्टियों के माध्यम से ही क्रियान्वित और निष्पन्न होते हैं, किन्तु इन क्रियाओं में व्यक्ति जाति–चेतनागत अर्थ–क्रियान्वयन से ही नियुक्त होते हैं।

किन्तु चेतना में मानवजातीय रूप में एक सर्वथा नये आयाम, या सोपान कहें, का आविर्भाव होता है जिसमें प्रत्ययों का एक सर्वथा नया आयाम जन्म लेता है। यह नया आयाम है चेतना की निश्शेष जगद्भावता या विषयोन्मुखता के विपरीत प्रत्यङ्मुखता। यह प्रत्यङ्मुखता इस चेतना के लिए चेतना के अपने प्रवर्तनों को भी विषयतया अवगम्य बना देती है, जिसका अर्थ है चेतना में एक सर्वथा नयी, सर्वथा भिन्न अतिप्राकृतिक विषयिता का आविर्भाव। इसका एक परिणाम यह भी होता है कि इसमें चेतना का प्रत्ययात्मक उन्मीलन अतिक्रामी नहीं रह कर उन्नततर विषयिता का विषय हो जाता है। ऐसा इस चेतना की प्रत्यङ्मुखता के कारण होता है, जिसके लिए कोई विषयिता प्रत्यन्त नहीं रहती, वह ऊर्ध्वतर विषयिता में अतिक्रमित हो कर उसकी ज्ञेय और विवेच्य विषय हो जाती है—यहाँ तक कि स्वयं अस्मिता भी आत्म रूप में विषय होकर ज्ञेय और विवेच्य हो जाती है। इस भेद का क्या अर्थ है इसे समझने के लिए मनुष्य के आवास–निर्माण को उदाहरण रूप में लिया जा सकता है। चिड़िया के लिए घोंसला बनाना वैसा ही व्यापार है जैसा उड़ना, खाना जुटाना, खाना खाना आदि। इसके आगे जाकर यदि गौरैया के गौरैया–देह–धारण को भी लें तो यह अयुक्त नहीं होगा, जिसे आलय–चेतना में अतिक्रान्तरूपेण विशिष्ट अर्थभावेन प्रवर्तन का प्रतिफल कहा जा सकता है, गौरैया–चेतना में घोंसला–निर्माण–क्रिया के अर्थभावेन प्रवर्तन के समान। यह सब चेतना में अतिक्रामी रूप से जगद्भावेन प्रवर्तित व्यापार है। इसे अनादि वासना–व्यापार भी कह सकते हैं, जिसमें 'अनादिता' का अर्थ है प्रवर्तन का आत्म–चेतन संकल्पमूलक नहीं होना। किन्तु मनुष्य में आवास आवास–निर्माण में सहज प्रवर्तन से भिन्न आवास–अपेक्षा के समाधान के रूप में अनन्त सम्भावनात्मक अर्थ : प्रत्यय : रूप में साक्षात्कार्य होता है और इस प्रकार वह शेर की माँद या चील के दो तिनके के घोंसले से लेकर राज–प्रासाद तक एक ही 'रूप' की अनेक–रूप अभिव्यक्ति का आधार हो जाता है। आवास–निर्माण सहज जैव अपेक्षा के समाधान के लिए सहज जैव क्रिया है, जो जीव में उसके क्रिया–प्रवर्तन की अतिक्रामी निर्धारक होती है, इसके विपरीत आत्मचेतन चेतना में यह प्रत्ययात्मक अर्थ : विषय : रूप में अवगम्य और विवेच्य–विमृश्य हो जाती है। मनुष्य की उपकरण–निर्माण–क्षमता का मूल इसी जैव प्रवृत्ति के जगद्भाव से आत्मोन्मुख निवर्तित चेतना में प्रत्यय रूप में प्रस्तुति में है। यहाँ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एक और उदाहरण लेना स्पष्टीकरण के लिए स्थाने होगा—पक्षी आकाश में उड़ते हैं, उनके पंख होने से। गाय या शेर के पंख नहीं होते इसलिए वे न उड़ते हैं और न उनमें उड़ने की कभी कल्पना या इच्छा होती है, क्योंकि उनमें वह कर्मेन्द्रिय ही नहीं है जो उनमें इस इच्छा को क्रियान्वित कर सके। उनमें इच्छा और उसे क्रियान्वित करने वाली इन्द्रिय में एक नियत अनुक्रम रहता है। इसके विपरीत मनुष्य उड़ने का उड़ने की इच्छा और क्रिया से स्वतन्त्र प्रत्यय रूप में साक्षात्कार कर सकता है, जो प्रत्यय क्रियान्वयन की असंख्यविध सम्भवनाओं से गर्भित रहता है। उसमें इस प्रवृत्ति के लिए न कर्मेन्द्रिय का होना आवश्यक है और न उपकरण का। भगवान राम पुष्पक विमान से लंका से आये थे, हनुमान बिना किसी विमान के ही आकाश-मार्ग से आये थे, और देवता सहज रूप से नभचारी हैं ही। इतना ही नहीं, इस चेतना के लिए उड्डयन-उपकरण, कर्मेन्द्रिय, उड़ने की इच्छा ये सब भी अपने घटित रूपों से भिन्न प्रत्यय रूप में अवगम्य हो सकते हैं। यहां यदि कोई कहे कि पक्षी में पंख और उड़ने की प्रवृत्ति का मूल भी आलय-चेतना में प्रत्यय रूप में रहना चाहिए, तो उसका यह कथन अविचारणीय नहीं होगा।

प्रत्यय-धर्मिता आत्मचेतन चेतना के ऐन्द्रिक ग्रहणों और क्रियाओं में भी अन्तर्निहित रहती है, जिसे बौद्धों ने विकल्प, वेदान्तियों ने नाम-रूप : कल्पनाएँ : और काँट ने अतिक्रामी कोटियाँ कहा है। इन विकल्पों को ये दार्शनिक अतिवैयक्तिक चेतना की कल्पनाएँ और इस प्रकार अवास्तव मानते हैं जबकि ये ऐन्द्रिक ग्रहणों को किसी न किसी प्रकार से वस्तु-सम्बद्ध मानते हैं। दिङ्नाग-धर्मकीर्ति तो स्पष्टतः ही इन्हें निर्विकल्पक वस्तु-दर्शन कहते हैं और काँट भी इन्हें किसी प्रकार से बाह्य वस्तु से कारित देखते हैं। विज्ञानवादी वसुबन्धु और बर्कले भी इन्हें ज्ञान-व्यापार से पृथक् ही रखते हैं। वसुबन्धु विषय-विषयिभाव : ग्राह्य-ग्राहक-भाव : को स्पष्टतः ही मिथ्या कल्पना कहते हैं और इससे रहित शुद्ध विज्ञप्ति को परमार्थदर्शी (बुद्धानां विषयः) कहते हैं। धर्मकीर्ति अर्थ-क्रियाकारी वस्तु के निर्विकल्पक दर्शन को परमार्थ-दर्शन कहते हैं। (द्रष्टव्य न्याय-बिन्दु) किन्तु दार्शनिकों की यह दृष्टि लोक-बुद्धि से ऊपर उठ पाने में उनकी असामर्थ्य की ही द्योतक है। बर्कले द्वारा वस्तु को ऐन्द्रिय विज्ञप्तियों से स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं दे पाना किन्तु तब भी वस्तु के व्यक्ति के लिए अदृश्य पक्षों को अवास्तव नहीं मान पाना इसी लोक-बुद्धि से मुक्त नहीं हो पाने का द्योतक है। किन्तु वस्तु का ज्ञापक, या वसुबन्धु और बर्कले के समान वस्तुविहीन वास्तवता का ज्ञापक, केवल इन्द्रिय को मानना केवल दृष्टि-दारिद्र्य का ही द्योतक है। उतना ही दारिद्र्य का द्योतक किसी ऐसे अतिबौद्धिक अनुभव को वस्तु-ज्ञापक मानना है जिसे वसुबन्धु और शंकर ग्राह्य-ग्राहक-भाव-रहित कहते हैं। वास्तव में आत्मचेतन चेतना में, अनात्मचेतन : देहेन्द्रियात्मक : चेतना से भिन्न, विषयिता विषय-ग्राहक होने के साथ प्रत्यङ्मुख और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस प्रकार उत्क्रमणात्मक : साक्षि-रूप : भी रहती है और वसुबन्धु तथा शंकर उसी उत्क्रमणात्मकता की पार्यन्तिकता को तादात्म्यभावेन वस्तुदर्शी कहना चाह रहे हैं। इसमें वे यह भूल जाते हैं कि यह प्रत्यङ्मुख पार्यन्तिकता ग्राह्य-ग्राहक भाव की प्रत्यङ्मुखता की ही पार्यन्तिकता है, इस भाव से रहित पार्यन्तिकता नहीं है। वसुबन्धु और शंकर के इस प्रतिपादन के अभिप्राय का संकेत उपनिषद् के इस कथन में देखा जा सकता है जिसमें वह कहती है कि, "जो आँखों से देखता है किन्तु जिसे आँखें नहीं देखती हैं, उसी को तू ब्रह्म जान।" किन्तु उपनिषद् प्रत्यङ्मुख चेतना में अवस्थित होकर उस आँखों से नहीं दिखने वाले ब्रह्म को ग्राह्यरूपेण *देखते हैं* तभी ऐसा कह सकते हैं और हम उनकी बात समझ सकते हैं। इसे काँट के उदाहरण से और स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। काँट ऐन्द्रिय-विषय-ज्ञान के स्वरूप का विवेचन अनुभवातीत : अतिक्रामी : ग्राहकता-रूपों (अ प्रायराई केटेगरीज़ ऑफ अंडरस्टेंडिंग) के रूप में ही नहीं करते, उन रूपों का वे पूरा विवरण भी देते हैं। यहाँ वे यह देखना भूल जाते हैं कि इस अतिक्रामिता में केवल ऐन्द्रिक ग्राहकता का ही अतिक्रमण है, ग्राहकता मात्र का अतिक्रमण नहीं है, इसी से यह ग्राहकता अतिक्रमित होकर उन्नततर ग्राहकता की ग्राह्य हो जाती है, जिसका प्रमाण है कि वे उन ग्राहक कोटियों का विवरण देते हैं।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि दार्शनिक जिस इन्द्रिय-विषयता की बात करते हैं वह प्रत्यङ्मुख : मानव : चेतना की ही इन्द्रिय-विषयता है जो पराङ्मुख : अनात्मचेतन : पाशव : चेतना के लिए अगम्य होती है। पराङ्मुख चेतना दैहिक और आवेगात्मक वासनाओं से उपरंजित इन्द्रिय-विषयता के विषयों की ग्राहक होती है और वह इस विषयिता के विषयकरण में असमर्थ रहने से इन विषयों के यथातथ रूप को नहीं देख पाती। इसके विपरीत प्रत्यङ्मुख चेतना इन विषयों और इनकी विषयिता दोनों को देख पाती है और तब इस विषयिता को इन्द्रिय-विषयों के यथातथ ग्रहण में भी बाधक पाती है। विषयिता के इस बाधक स्वरूप को साधारण जन भी देखता है, वैज्ञानिक और दार्शनिक के लिए इस विषयिता से रहित विषय का स्वरूप अतल अर्थ-गर्भ होता है जिसको समझने के लिए ये अनेक सिद्धान्त बनाते हैं। इन सिद्धान्तों में वे नितान्त विषयनिष्ठ, विषयिता से अनुपरक्त, विषयता की खोज करते हैं। यह पारदर्शी विषयिता प्रत्ययदर्शी चेतना द्वारा प्रत्यय रूप में ही ग्राह्य होती है, लोक और दार्शनिकों की इस धारणा के विपरीत कि विषय केवल इन्द्रिय-ग्राह्य ही हो सकते हैं। निश्चय ही देहेन्द्रियमूलक चेतना भी विषय-लक्षी ही होती है, किन्तु इसमें उसकी विषयिता ही विषय-निर्धारक होती है, और यह विषयिता इन्द्रिय, देह, बुभुक्षा-पिपासा और आवेगात्मक चित्त से निर्धारित होती है, जबकि विषय-दर्शन के लिए विषयिता को ऊर्ध्वतर चेतना में अतिक्रमण करना होता है और उसे उसकी यथातथ सत्ता में देखना होता है। निश्चय ही यह भी विषयिता ही होती है, किन्तु आत्मातिक्रामी विषयिता, जो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषयिता के दैहिक, ऐन्द्रिक, चैत्त और बौद्धिक सब स्तरों को विषय कर शुद्ध साक्षी भाव में प्रतिष्ठित हो सकती है। इस प्रकार इस चेतना के लिए नील–पीत, भोज्याभोज्य, शत्रु–मित्र आदि रूप विषय ही विषय नहीं होते, चक्षु–त्वक् आदि इन्द्रियाँ और इनके व्यापार, सुख–दुःख और क्रोध–प्रेम आदि आवेग, घटत्व–पटत्व, सुखिता–दुःखिता आदि तत्त्व ये सब भी विषय होते हैं।

यहाँ एक भेद द्रष्टव्य है। इन्द्रियों के विषय जबकि इनसे इतर : दैशिक वस्तुएँ या रूप : होते हैं और बुद्धि के विषय इससे इतर : प्रत्यय : होते हैं, चित्त के कोई विषय नहीं होते, चित्त केवल आवेग और सुख–दुःखानुभव आदि रूप में विषयितया घटित ही होता है, इस विषयिता के विषय नहीं होते। यह विषयिता दैहिक, ऐन्द्रिक और बौद्धिक विषयिता को उपरंजित कर उसके विषयों को, या कहें इनकी विषयिता को, आवृत ही करती है। किन्तु यह विषयिता भी प्रत्यङ्मुख चेतना की उत्क्रामी विषयिता की विषय हो पाती है।

यहाँ कहा जा सकता है कि क्रोध–कामादि आवेग भी किसी विषय को लक्षित कर ही प्रवर्तित होते हैं। यह सही है, किन्तु ये विषय–ग्राहक–विषयिता–धर्मी नहीं होकर जगद्भाव से प्रवर्तित चेतना के अंगभूत होते हैं। इस चेतना को हमने विषय–तदात्म चेतना कहा है। यों तो इसी चेतना को विषय की यथार्थ–दर्शी कहना चाहिए, हेनरी बर्गसाँ वास्तव में इसी को यथार्थ–दर्शी कहते हैं, किन्तु यदि पाशव चेतना से परे मानव–चेतना को उपलब्ध अर्थ–वैभव की विपुलता को देखें, जिसकी ओर पीछे और अपने अन्य प्रतिपादिनों में हमने संकेत किया है, तो इससे यही दर्शित होता है कि चेतना विषय का सत्य विषय से मुक्त होकर, उसे पूर्णतः उसके पार्थक्य में प्रतिष्ठित कर ही, पा सकती है। अब इन आवेगों को ही देखें। चेतना इनमें तादात्म्य भाव से रह सकती है। अनात्मचेतन चेतना इस तरह रहती ही है। तब इनका अपना कोई अर्थ ग्राह्य नहीं होता, ये विषय के अर्थ रूप में ही उपलब्ध होते हैं। किन्तु आत्मचेतन चेतना इनसे विषयिता में विनिवर्तित होकर इन्हें स्वतन्त्र अस्तित्व : घटना : और इनके स्वतंत्र अर्थों में देख सकती है। ऐसा नहीं है कि तब इनके अर्थ अपने याथार्थ्य को सहज रूप से द्रष्टा पर प्रकट कर देते हैं, किन्तु ये स्वतन्त्र और गुह्य अर्थों से गर्भित हैं, यह इस चेतना को इनसे निवर्तित होकर प्रकट हो जाता है।

यह सही है कि ये प्रवर्तन भी अवांछनीय वृत्तियों में प्रवर्तित हो सकते हैं। तब ये निरोध्य होते हैं। किन्तु तब इन्हें भी प्रत्यङ्मुख उत्क्रामिता में विषय होना होता है, यद्यपि निरोध इनके विषयितया प्रवर्तन का ही करना होता है। इन विषयिताओं के इनके विषयितया प्रवर्तन में निरोध के लिए इनका विषयतया ज्ञेय होना आवश्यक होने से केवल मनुष्य ही योगी हो सकता है, पशु नहीं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रत्यङ्मुख चेतना में प्रत्यय जबकि सहज रूप से विषयतया ही उन्मीलित होते हैं और उस तरह यह चेतना दर्शन, धर्म, विज्ञान आदि के रूप में विपुल अर्थों का साक्षात्कार करती है, ये इसमें विषयितया भी उन्मीलित हो पाते हैं और तब ये काव्य और कलाओं के रूप में दूसरे और विपरीत प्रकार के अर्थ–रूपों में व्यक्त होते हैं। इस उन्मीलन के स्वरूप का हमने अन्यत्र विस्तार[5] से निरूपण किया है इसलिए यहाँ हम इसका बहुत संक्षेप से विवेचन करेंगे।

विषयिता स्वयं में ज्ञेय नहीं होती, यह विषय में रूपान्तरित होकर ही ज्ञेय बनती है और विषयिता का विषयिता में रूपान्तरण चेतना के प्रत्यङ्मुख उत्क्रमण से सम्भव होता है, यह हमने ऊपर देखा। किन्तु यह चेतना विषयिता का उसकी विषयिरूपता में भी अन्तर्दर्शन कर पाती है यह हम साधारण अनुभव में भी देख सकते हैं, किन्तु काव्य और कलाओं में हम इसे स्फुट रूप से भी देख पाते हैं। इसे समझने के लिए साधारण अनुभव से आरम्भ करना उपयुक्त होगा। प्रत्येक जीव अन्य जीव को विषय रूप में भी देखता है और विषयी रूप में भी। एक गुर्राता कुत्ता दूसरे गुर्राते कुत्ते को इन दोनों रूपों में देखता है और स्वयं को उसकी विषयिरूपता के विषय के रूप में देखता है। 'बच्चे प्रत्याशा में होंगे, नीड़ों से झाँक रहे होंगे, यह ध्यान परों में चिड़ियों के, भरता कितनी चंचलता है', यह जीव मात्र का सत्य है और इसमें माँ के लिए बच्चा अपनी विषयिता में ही प्रस्तुत होता है। उसकी विषयता उसकी विषयिता के लिए संकेत बन कर तिरोहितवत् रहती है। किन्तु चिड़िया अपने परों में चंचलता भरने वाले 'ध्यान' को नहीं देख सकती। मनुष्य यह देख सकता है, किन्तु यह देखना इस 'ध्यान' को विषय में रूपान्तरित कर देता है। किन्तु वह इस ध्यान की 'अनुभूति' का 'अनुभव' भी कर सकता है, यद्यपि इस अनुभूति के साथ उसके स्वरूप में बने रह पाना और उसके अन्तर्गतार्थ में विचरण कर पाना बहुत दुःसाध्य होता है। यह सिद्धि हमें काव्य और कलाओं के माध्यम से हो पाती है। वहाँ तब अपनी विषयता और विषयिता में भेद नहीं रहता। उदाहरणतः जब कोई चित्रकार अपनी मुखाकृति को चित्रांकित करता है तब वह अपने दृश्य रूप को अपनी आत्मा के व्यंजक रूप में ही अंकित करता है, जिस आत्मा के साथ वह उसकी विषयिता में तदात्म रूप से होता है। यही वह एक दौड़ते घोड़े को और टूटे ताँगे को चित्रांकित करने में भी करता है। यहाँ कहा जा सकता है कि तांगे की कोई विषयिता नहीं होती, वह केवल विषय ही होता है। यह ठीक है, किन्तु चित्रकार के लिए वह दृश्य एक मनोऽवस्था का व्यंजक होकर ही चित्रणीय बनता है। इस मनोऽवस्था को, या चित्रकार की चित्र में व्यंजित मनोऽवस्था को, वर्णनात्मक पदावली में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, उस पदावली के लिए ये अर्थ अवाच्य होते हैं। विषयिता का यह अत्यन्त असाधारण रूप है इसलिए दार्शनिकों तथा कला–चिन्तकों का ध्यान इस ओर नहीं गया। वे रस–आस्वाद में ही काव्य और कला का तत्त्व देखते रहे, जिसका काव्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

या कला–सर्जन से कोई भी सम्बन्ध नहीं है, आस्वाद का सम्बन्ध आनुषंगिक रूप से केवल दर्शक–पाठक से ही देखा जा सकता है। अवश्य कुछ काव्यशास्त्रियों ने रस के बजाय ध्वनि या वक्रोक्ति को काव्य का तत्त्व कहा है, किन्तु उन्होंने भी यह नहीं देखा कि कवि को ध्वनि या वक्रोक्ति का आश्रय क्यों लेना पड़ता है, विषयपरक चिन्तन-विवेचन (विज्ञान, दर्शन, शास्त्र आदि) के समान भाषा का अभिधात्मक प्रयोग उसमें क्यों काम नहीं देता? काव्य में भाषा का अभिधात्मक प्रयोग और चित्र में रेखाओं का अनुकारी प्रयोग इसलिए नहीं होता क्योंकि उनमें प्रत्यय अपने स्वाभाविक विषयात्मक रूप में प्रवर्तित नहीं होते। संगीत में विषयता का लेशमात्र भी अवशिष्ट नहीं रहता जिससे काव्य में भाषा के कारण और चित्र में रंग–रेखाओं के कारण पूर्ण मुक्ति सम्भव नहीं होने से व्यञ्जना का आश्रय लेना पड़ता है। व्यञ्जना में विषयि–प्रत्यय अपरोक्षत: ही अभिव्यक्ति–लाभ कर पाता है।

विषयिता को इस प्रकार उसकी निजरूपता में ही प्रत्यय–गोचर बना पाना यह प्रत्यङ्मुख चेतना के लिए ही सम्भव होता है, यद्यपि सहज नहीं होता। यह प्रत्यय की विषयात्मकता से सर्वथा भिन्न प्रवर्तन और साक्षात्कार होता है, यह इससे देखा जा सकता है कि काव्य–रचना और 'काव्य क्या है' यह विमर्श ये दो सर्वथा भिन्न प्रकार के प्रत्यय–दर्शन हैं और अच्छा से अच्छा कवि इस दूसरे विमर्श में असफल रह सकता है, जिस प्रकार अच्छे से अच्छा काव्य–स्वरूप–विचारक घटिया कविता रचने में भी असफल रह सकता है।

× × × ×

हमने विषय, और वस्तु को भी, चित् का ही विवर्त : अर्थात्मतया प्रवर्तन : कहा है किन्तु विज्ञप्तिमात्रतावाद और जगन्मिथ्यात्ववाद की आलोचना की है। इसकी युक्तता पर प्रश्न उठना स्वाभाविक है। इन सब सिद्धान्तों में भी विषय का अस्तित्व या सत्य व्यावहारिक रूप से तो स्वीकार किया गया ही है, इसका बाध केवल इसके अधिष्ठान में प्रतिपादित किया गया है, और ऐसा हमारे प्रतिपादन में भी निहित है, ऐसा कहा जा सकता है। इस पर हमारा उत्तर है कि इन प्रतिपादनों में चित् के देहेन्द्रियात्मक प्रवर्तन को ही वस्तुविषयक परमार्थ ज्ञान के प्रमाण के रूप में देखा गया है और उसमें इसे अप्रमाण दिखाकर व्यवहार और परमार्थ का भेद किया गया है, यह अयुक्त है। यह इनके द्वारा चित् के बुद्ध्यात्मक प्रवर्तन को विकल्प और विकल्प को कल्पना मात्र कहने से भी स्पष्ट है। इसमें इनका यह पूर्वग्रह है कि क्योंकि बुद्ध्यात्मक अर्थों का बाह्य देश में कोई अवस्थान नहीं होता इसलिए ये मन की कल्पनाएँ मात्र होते हैं, और इसी तर्क से, यदि ऐन्द्रिक विषयों की भी कोई बाह्य देश में ठोस प्रतिष्ठा नहीं है तो वे भी मनोकल्पनाएँ मात्र हैं। किन्तु तब सम्बोधि और ब्रह्म भी मनोकल्पनाएँ ही होनी चाहिएँ! इसके समाधान के लिए ये देहेन्द्रिय के जैसे ही किसी आन्तर अनुभव : साक्षात्कार : की बात करते हैं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जिसकी लक्ष्यभूत वस्तु इस अनुभव के लिए अपरोक्षत: गम्य होती ये देखते हैं। किन्तु इसमें कोई युक्ति नहीं है। इसके विपरीत हमने दिखाने का प्रयत्न किया है कि देह, इन्द्रियाँ, इनके विषय और इनका वास्तव : वस्तुगत : अधिष्ठान चित् के अर्थात्मतया प्रवर्तन का केवल एक रूप या एक स्तर है और विपन्नतम स्तर। अन्य स्तर आवेग-कामादि हैं और उसके ऊपर उपयोगात्मक बुद्धि और उसके ऊपर विमर्शात्मक, प्रज्ञात्मक बुद्धि के स्तर हैं। फिर चित् के अर्थात्मतया प्रवर्तन के अतिवैयक्तिक-अतिचैत्त स्तर भी हैं जो आद्य जगद्भाव, जैव-भाव, जाति-भाव आदि रूप में प्रवर्तित देखे जा सकते हैं, जिनके आकलन के अस्फुट और असम्यक्तया अवधारित रूप बौद्धों के अनादि वासना, वेदान्तियों के माया और काँट के ट्रांसेंडेंटल केटेगरीज़ में देखे जा सकते हैं। इसके विपरीत हमारे अनुसार चित् के ये सब विभिन्न और स्वत:प्रमाण अर्थात्मक प्रवर्तन हैं जिनमें देहेन्द्रियात्मक प्रवर्तन अर्थात्मक दृष्टि से विपन्नतम है, आवेगात्मक और उपयोग-बुद्ध्यात्मक प्रवर्तन इसके विभिन्न स्तरीय सहकारियों के रूप में आविर्भूत होते हैं। इनके प्रमाण-अप्रमाण के अपने पूर्वग्रह रहते हैं। जैसे, बौद्ध और वेदान्ती जिन्हें व्यवहार कहते हैं और काँट प्रागनुभविक कोटियाँ कहते हैं वे देहेन्द्रियात्मक प्रवर्तनों के प्रमाण-रूप हैं, इनका अधिष्ठान भी इनके अपने भीतर ही देखना चाहिए, वसुबन्धु, शंकर, धर्मकीर्ति और काँट के समान इनके बाहर नहीं, जिसे बाहर अनुपस्थित दिखा कर वसुबन्धु और शंकर भिन्न-भिन्न प्रकार से इसे असत् या मिथ्या कहते हैं और धर्मकीर्ति और काँट उपस्थित दिखा कर सत्प्रतिष्ठ कहते हैं। इनसे ऊर्ध्वतर और तर-तम प्रवर्तन उपयोगात्मक, विमर्शात्मक और प्रज्ञात्मक बुद्धि के हैं, जिनमें स्थौल्य-काठिन्य आदि का अभाव देख कर ये इन्हें कल्पना : विकल्प : कहते हैं, जबकि ये अर्थ वैभव में अपार और अतल होते हैं और इनमें प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता के अपने निकष होते हैं। जिसे ये सम्बोधि या ब्रह्म-भाव की अर्थातिक्रामी : निर्गुण और ग्राह्य-ग्राहक-भाव-शून्य : स्थिति कहते हैं और जिसमें ये चित् का निर्विशेष-निरवच्छिन्न वस्तु-तादात्म्य देखते हैं, वह तो वास्तव में देहेन्द्रिय स्तर से भी विपन्नतर और इस प्रकार विपन्नतम स्थिति ठहरती है, किन्तु वास्तव में यह सम्पन्नतम स्थिति होती है, जैसाकि औपनिषद ऋषियों के आनन्दं ब्रह्म में, बुद्ध के रचनाकाय में या कबीर के पाँचों तत्त्वों की बारात के साथ राम से ब्याह रचाने में देखा जा सकता है। उपयोग और विमर्श-बुद्धि में कल्पनात्मकता देखना और देहेन्द्रियात्मक अर्थों में ठोस आधार नहीं पाकर काल्पनिकता देखना ऐसा ही है जैसा प्राकृतजन का ईश्वर या ब्रह्म को आँखों के सामने दिखाने की माँग करना और इस आधार पर उनको कल्पना मात्र मानना।

पी-51, मधुवन पश्चिम,
किसान मार्ग, जयपुर-302015

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पाद–टिपपणी

1. 'अतिक्रामी' शब्द का प्रयोग हमने काँट के 'ट्राँसेडेंटल' के अर्थ में किया है. अर्थात् वे चिद्गत आकार जिनमें आकारित होकर इन्द्रियानुभव विषय बनता है।

2. इस नियोजन के स्वरूप का विवेचन हमने *विषय और आत्म* पुस्तक के 'विषय' शीर्षक अध्याय में किया है।

3. द्रष्टव्य है कि बसुबन्धु ने इस सबका अपने सिद्धान्त में आकलन किया है और इसकी व्याख्या भी दी है, जिसका लेशमात्र भी बर्कले मे नहीं मिलता। इस पर देखें *प्रमुख भारतीय और पाश्चात्य दर्शन–धाराएं* में हमारा लेख 'वसुबन्धु का विज्ञानवाद।' किन्तु यहाँ हम इसकी उपेक्षा कर रहे हैं।

4. यहाँ यह ध्यातव्य है कि उपनिषदों के इन उद्धरणों से यह नहीं समझना चाहिए कि ये उपनिषदों के अभिप्रेत अभिप्राय की अनुसारिता में उद्धृत हैं। यहाँ ये उनसे स्वतन्त्र अर्थ में उद्धृत हैं। वह अर्थ इस प्रसङ्ग के अनुसार ही समझना चाहिए।

5. द्रष्टव्य —*मूल्यतत्त्व मीमांसा,* तथा *काव्य–विमर्श।*

❑

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

क्या है? क्या नहीं है? – एक बातचीत (तीसरी बैठक)

मुकुन्द लाठ

(पिछली दो बैठकों को कुछ दिन हो गये हैं। इस बीच मित्र-मंडली मिलती तो रही है, पर 'है-नहीं है' पर चर्चा नहीं हुई। फिर भी प्रश्न और उस पर विचार सबके मन में घुमड़ता रहा है, और एक दिन चर्चा का फिर आरंभ हो जाता है। चर्चा का सूत्रपात पृथु ही करता है जिसने पहले भी चर्चा का आरंभ किया था।)

पृथु : मैंने कल ही रात *ऋग्वेद* का एक सूक्त पढ़ा तो सकते में आ गया! मैं सोच भी नहीं सकता था कि सैकड़ों-हज़ारों साल पहले किसी ऋषि ने होने-नहीं होने के बारे में ऐसे गहरे और ऐसे तीखे सवाल किये हैं। मैं तो सोचता था कि ऋषि सवालों का उत्तर देते हैं, उनकी आर्ष-बुद्धि किसी परम सत्य की पहुँच रखती है और उसे अपनी वाणी में उतार लाती है। पर यहां तो देखता हूं कि ऋषि प्रश्नों से व्याकुल है, मन के अंतरतम तक व्याकुल है – हमसे भी कहीं ज़्यादा परेशान है! उसके प्रश्न का घेर किसी भी कुछ को भी प्रश्न-बाहर नहीं छोड़ता – 'है' के साथ उसका प्रश्न 'नहीं है' को भी समेट लेता है। उत्तर के लिये कोई जगह ही नहीं बचती। ऋषि कहता है कि क्या है, क्या नहीं है इस प्रश्न का उत्तर देवता भी नहीं दे सकते। सृष्टि कहां से आई, किसके सहारे टिकी है, काहे के चलाये चलती है, इसका कोई जवाब नहीं, देवताओं के पास भी नहीं है – आख़िर देवता तो सृष्टि के होने के बाद हुए हैं!

अनुभूति : अब इतनी भूमिका मत बाँधो। तुम कुछ कहते हो तो अपनी ही उधेड़बुन में उलझ जाते हो। पहले सवाल क्या है, यह तो बताओ। क्या कहते हैं ऋषि? उनका मंत्र सुनाओ।

पृथु : ऋषि जो कहते हैं, कई मंत्रों का एक सूक्त है – कुछ लम्बी सी बात है। पर पूरी बात सुनने लायक है। सुनाता हूं। तभी बात बनेगी और ऋषि के कहे का असर खुलेगा; यों देखो तो सूक्त बहुत बड़ा भी नहीं है। लेकिन जो भी है, पढ़ता हूं (जेब से एक मोड़ कर रक्खा काग़ज़ निकाल कर खोलता है और पढ़ता है) :

न असत् था, न सत् था तब
न यह लोक था न परे वह व्योम था।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

क्या था जिसने सब ढक रखा था,
कहां किसके सहारे?

न मृत्यु थी, न अमृत था तब
न रात या दिन का कोई चिह्न था।
निर्जीव, निर्वात, अपने में ही स्थित
वह एक था – दूसरा कोई न था।

अँधेरा था, अँधेरे में ही डूबा हुआ;
निश्चिह्न सलिल था यह सब कुछ।
तुच्छता से ढका था सारा होना।
और तब, तप की महिमा से उस एक ने जन्म लिया

सबसे पहले काम आया
मन का वह पहला वीर्य था।
हृदय में खोज कर, मनीषा से
कवियों ने सत् की शृंखला को असत् में देखा

सामने फैलती हुई उनकी रश्मि
क्या नीचे थी या ऊपर थी?
क्या वे वीर्य–वर्षी थे, महिम थे?

क्या उनकी स्थिति अवर थी
और उनकी चेष्टा पर की ओर?
सच कौन जानता है? कौन यहां बता सकता है?
क्यों यह सृष्टि हुई, कहां से आई?

देवता भी इसके होने के बाद हुए हैं
तो फिर कौन जानता है कि यह कहां से आई?

जिससे यह सृष्टि आई
हो सकता है वह इसका धारण करता है
या नहीं करता!
परम व्योम में जो इसका अध्यक्ष है
वह जानता है; या वह भी नहीं जानता!

(कुछ देर सब चुप रहते हैं, फिर पृथु से अनुभूति कहती है कि सूक्त को दुबारा पढ़े। पृथु सूक्त फिर से पढ़ता, पढ़ने की लय को और धीमा रखते हुए – कुछ लाइनें अपने मन से या किसी के कहने से दुहराता चलता है। अंत में थोड़ी देर फिर सब चुप रहते हैं। अनुभूति चुप्पी तोड़ना चाहती है, पर सिद्धर्षि बोल उठता है)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सिद्धर्षि : (सुनता हुआ कहे में उतरने की कुछ कोशिश तो कर रहा था पर बात बिल्कुल गले नहीं उतर रही थी। भीतर से थक कर आजिज़ आया हुआ कसमसाता जा रहा था। और अब जैसे सारी बात को सामने से दूर कर देने के लिये कुछ दुत्कार के भाव के साथ बमक उठता है) : पृथु, तुम भी कहां कहां की उलटी-सीधी बातें बटोर लाते हो और ले उड़ते हो! ऋषि ही सही, या कोई भी क्यों न हो, बात कुछ कहती हुई, किसी तरीके से कहीं जाती हुई तो होनी चाहिये! पर तुम जिसकी बात ले बैठे हो उस कहनेवाले ने तो बिल्कुल बेबात की बात निकाली है! मुझे तो ऋषि की सारा कहना ऊटपटाँग लग रही है। कुछ कह ही नहीं रहा। बिल्कुल बेमानी है। पहली ही लाइन को देखो। क्या कह रही है? कुछ भी तो नहीं कह रही है! पर कुछ नहीं कह कर भी कहने की गहराई में गोता लगाने का पैंतरा दिखा रही है! सत् और असत् दोनों के *नहीं होने* की कोई स्थिति कैसे हो सकती है? फिर ऋषि उसका स्वरूप भी बताता है। उसे 'तुच्छ' कहता है। और साथ ही किसी 'एक' के 'होने' की भी बात करता है। और फिर तप या तपस्या से उस तुच्छ में से उस 'एक' के 'होने' या जन्म की बात करता है! कुछ नहीं था तो तुच्छ कहां से आया, तपस्या कैसे हुई, उसमें से 'एक' कैसे जन्मा? ये सब भी तो आख़िर होते ही हैं! ऋषि की बात ही तुच्छ है – बातों का बेतुका झाड़-झंखाड़। बात नहीं, बात का धोखा है। पर धोखा ऐसा कि जैसे सचमुच कुछ कोई दर्शन का गहरा तत्त्व हो! ऐसी बातों में गहराई देखने लगो तो बुद्धि झूठे भूलभुलैये में भटकने लग जाती है। पर और सब छोड़ो, पहली ही लाइन को लो : सत् और असत् दोनों के *नहीं होने* का मतलब क्या? ऐसी बेबात की बात तो कल्पना के भी बाहर है!

पृथु : यही तो ऋषि कहना चाहते हैं – सृष्टि का रहस्य कल्पना के बाहर है। हमारी कल्पना की एक सीमा है, ऋषि उसके बाहर संकेत करना चाह रहे हैं। हमारी कल्पना में और हमारे विचार में यह शक्ति है कि अपने आप को और अपनी सीमा को देख सकती है, इसलिये अपने से परे को भी कुछ भाँप सकती है। ऋषि जिधर बात को ले जा रहे हैं उधर कुछ सोच, कर तो देखो! उधर से एकदम आँख मत फेर लो। यह तो सहज ही सोचा जा सकता है कि जो कुछ है वह नहीं भी हो सकता था, या जैसा है वैसा नहीं हो कर बिल्कुल कुछ और हो सकता था। इसकी हम आसानी से कल्पना कर सकते हैं। फिर जो है इसका होना क्या रहस्य नहीं हो जाता? यह हुआ ही क्यों? इसकी सृष्टि कैसे हुई? कहां से हुई? किसलिये हुई? इसके पहले कुछ था या नहीं था? क्या उसे 'होने' या 'नहीं होने' जैसे शब्दों में डाला भी जा सकता है? ऋषि के मन में यही उलझन है जो सोचने लगो तो बिल्कुल सामने आकर खड़ी हो जाती है। फिर यह भी मत भूलो कि सृष्टि के प्रश्न तो हममें सहज हैं – आदमी सदा से करता रहा है। अपने आप को, अपनी स्थिति को – या अपनी दशा को कहो – और अपने परिवेश को समझने के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लिये आदमी सदा से सृष्टि की बात करता रहा है। और यह भी सोचो कि सृष्टि की बात वैसे तो नहीं की जा सकती जैसे सामने पड़े इस मेज़ की या उस पर रक्खे चाय-समोसे की! समोसे की सृष्टि कैसे हुई, उससे पहले क्या था और इस संसार की सृष्टि कैसे हुई, इससे पहले क्या था? – ये सवाल तो एक नहीं हैं। संसार से पहले की बात पहेली ही हो सकती है।

एक बात सोचने की यह भी है कि सृष्टि कैसे हुई इसके तरह तरह के उत्तर देता रहा है आदमी। कहानियां गढ़ता रहा है। ऋषि पहेली को पहेली ही रखना चाहते हैं – उन्हें प्रश्न ही सता रहा है – वे सत्यद्रष्टा हैं तो प्रश्न के – वरना दूसरे सत्यद्रष्टा कहलाने वाले लोगों ने उत्तर देने में कोई कसर नहीं की है। कितनी तरह की कहानियों में आदमी ने कितनी तरह से इस बात के उत्तर दिये हैं कि सृष्टि कैसे हुई, क्यों हुई। अपने पुराणों को ही देखो! दूसरे धर्मों को देखो! सब अपनी बात सृष्टि से ही शुरु करते हैं। हम क्या हैं, हमें क्या करना चाहिये, कैसे जीना चाहिये, इस सारी बात को, आचरण के विधि-विधान को, सृष्टि के साथ जोड़ते हैं। पर *ऋग्वेद* का यह सूक्त कोई कहानी नहीं कहता, किसी उपदेश या प्रथा या आस्था या जीवन-दृष्टि की पैरवी नहीं करता, प्रश्न को प्रश्न ही रहने देता है – उसकी धार को, उसके अगम रहस्य को इससे तीखा और गहरा क्या किया जा सकता है जैसा इस सूक्त में उभरता है? ऐसा प्रश्न-बोध हमें युक्तिहीन श्रद्धा और विश्वास के जकड़ाव से निकाल कर विचार की ओर ले जाता है। सृष्टि की कहानियां प्रश्न को प्रश्न नहीं रहने देना चाहतीं। उत्तर पर ही ज़ोर देती हैं और उससे हमें बाँध देना चाहती हैं। ईसाइयों के धर्मग्रंथ, बाइबल, को लो। आरंभ सृष्टि से ही होता है। और सोचो, क्या कहता है वह ग्रंथ सृष्टि के बारे में? वह जो कहता है उस पर कई सवाल सहज ही उठते हैं, पर वह सवाल नहीं उठाता – बल्कि सवाल का दुश्मन है। यह तो मान कर चलता है वह धर्मग्रंथ कि सृष्टि के पहले भी कुछ था – ईश्वर पहले से था। पर और कुछ नहीं था। ईश्वर ने 'कुछ नहीं' से सृष्टि की – क्योंकि ईश्वर सब कुछ कर सकता था – वह सब कुछ जानता भी था। पर साथ ही वह स्वयं-संपूर्ण भी था, उसे कुछ करने की ज़रूरत नहीं थी। पर फिर भी उसने सृष्टि की। अब ऐसी बातों पर सवाल अपने आप ही कसमसाने लगते हैं, पर सवाल उठाना मना है – धर्मग्रंथ परम सत्य की वाणी है। उसमें कही कहानी सवालों का जवाब है, सवालों को जगह देने के लिये नहीं है। यह सवाल छोड़ भी दो कि ईश्वर आया कहां से, उसकी सृष्टि किसने की? यही सवाल लो कि ईश्वर ने सृष्टि क्यों की जब अपने आप में पूरा था, उसमें कोई कमी नहीं थी? उसमें कमी हो ही नहीं सकती क्योंकि ईश्वर में कमी हो तो वह ईश्वर ही नहीं हो सकता। सृष्टि-रचना उसके पूरेपन का ही हिस्सा हो सकती है। तो फिर ऐसा भी कभी नहीं हो सकता था जब सृष्टि नहीं थी। या फिर ईश्वर ही किसी रूप में पूरा नहीं था

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और सृष्टि की रचना ईश्वर के पूरा हो पाने की चेष्टा है। पर ऐसा है तो फिर वह ईश्वर ही कैसा? उसे स्वयं–सम्पूर्ण तो नहीं कहा जा सकता! जो भी हो, ईश्वर ने सृष्टि की *रचना* की। इसकी रचना के पहले ईश्वर के सिवा कुछ नहीं था। पर उस 'कुछ नहीं' से ही ईश्वर ने यह 'सब कुछ' रच डाला। और किस लिये? सच पूछो तो सवाल होगा, किसके लिये? बाइबल की सृष्टि–कथा से साफ़ लगता है कि सृष्टि आदमी के लिये हुई, जिसे उसने सबसे बाद में रचा और अपनी ही छवि के रूप में रचा। उसे इसलिये रचा कि वह सृष्टि में रम सके, इसे भोग सके, इसका रस ले सके। उसने आदमी को रच कर उसी की पसली से उसके लिये एक औरत भी रच दी, हव्वा। आदमी का नाम था आदम, जिससे हम सब 'आदमी' कहलाते हैं। कहानी का इशारा, या व्यंजना कहो, यही जान पड़ता है कि ईश्वर अपनी रचना का आनंद लेना चाहता था, तभी हम उसकी छवि के रूप में रचे गये हैं। पर आगे की कहानी बड़ी अजीब है; आनंद की नहीं यातना की कहानी है। उसमें मनुष्य की दशा – उसकी दुर्दशा – छुपी है। यह मत पूछो कि मनुष्य अगर ईश्वर की छवि है तो दुर्दशा किसकी हुई, मनुष्य की या ईश्वर ही की? पर भुगतता तो आदमी ही है! ईश्वर ने जब आदमी को बनाया तो आदमी ईश्वर के साथ, उसके पास ही रहता था। पर जल्दी ही ईश्वर ने उसे अपने से दूर कर दिया, दुःखों के झाड़–झंखाड़ में धकेल दिया। अपने स्वर्ग से निकाल कर धरती की कैद में फेंक दिया। क्यों हुई यह दशा आदमी की? क्योंकि आदमी में ज्ञान का लालच जाग उठा! ईश्वर ने आदमी को अपने स्वर्ग जैसे बाग़ में ज्ञान का फल खाने से मना किया था, पर उसने आज्ञा का पालन नहीं किया। क्यों मना किया था ईश्वर ने आदमी को ज्ञान से, यह समझ में नहीं आता। ईश्वर तो ज्ञान का परम आकर था, और उसने आदमी को अपना प्रतिरूप रचा था? फिर उसने आदमी को ज्ञान से क्यों दूर रखना चाहा, वही जाने, वही सर्वज्ञ है! पर आदमी ने औरत की बात में आ कर ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध काम किया। यों उसने *पाप* किया। और अब पाप का फल भुगत रहा है। सवाल रह जाता है कि जब उचित और अनुचित का ज्ञान ही नहीं था – बोध तक ही नहीं था – तो पाप कहां से आया? कहानी यह कहती है कि औरत ने आदमी को मोह में डाला, उसे ज्ञान का फल चखने का लालच दिया – शैतान की बातों में आ कर। यानी सृष्टि के पहले ईश्वर ही नहीं, शैतान भी था। एक दूसरे का विरोध करते हुए दो परम तत्त्व थे। ईश्वर का शैतान पर बस नहीं था और शैतान ने औरत को अपना हथियार बनाया। वही पाप की जड़ है! कहानी एक झटके में उसे पाप का कारण बना देती है, पुरुष में दोष को छोटा कर देती है! पुरुष की गढ़ी कहानी लगती है। साफ़। औरत में आदमी का पाप भर दिया गया है! उसे नीचा दिखाने और कर देने के लिये! पर पूरी कहानी के बारे में सोचो। कैसी अजीब कहानी है! *प्रश्न* तो इसमें कहीं पाँव ही नहीं रखता! प्रश्न के लिये जिज्ञासा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का महत्त्व होना चाहिये – पर कहानी में जिज्ञासा का काम शेतान का है। जबकि उसका सम्बन्ध शैतान से नहीं, ईश्वर से होना चाहिये। ज्ञान की इच्छा पवित्र होनी चाहिये, पर उसे पाप से जोड़ा है और औरत को उसका पात्र बनाया है! जिज्ञासा अगर स्त्री में जागी तो उसे आदमी से ऊँचा होना चाहिये, पर उसीके कारण ईश्वर ने अपने बाग़ से आदमी को निष्कासित कर दिया। उसे धरती पर धकेल दिया, जहां वह अपने पाप के कारण दुख–दर्द की कैद में बंद है।

यह कहानी एक रूपक है – एक जीवन–दृष्टि और जीवन–प्रवृत्ति का रूपक – यह सृष्टि के साथ इसलिये जुड़ा है क्योंकि तभी बात की जड़ बात के आरम्भ तक ले जाई जा सकती है – जीवन को समूचा, *समूल* घेर सकती है। ऋषि भी मूल तक जाना चाहते हैं, पर उनकी बात को रूपक नहीं कह सकते। रूपक कहो भी तो इसी अर्थ में कि उसमें भी एक व्यंजना है – पर प्रश्न और रहस्य की व्यंजना है – किसी घटना की वहां बात नहीं जैसी कि बाइबल में है, यां सृष्टि की दूसरी कहानियों में होती है – कुछ पुराणों ही को ले लो। बाइबल का रूपक तो पूरा एक नाटक है। ऋषि के सूक्त को किसी अर्थ में रूपक कहो भी तो खींचतान ही होगी। हां, वहां भी कुछ होता है जिसे कहने को घटना कहा जा सकता है – तप का होना, उससे किसी 'एक' का जन्म लेना, पर यह कैसी घटना है? रहस्य ही गहराता है। सारी बात, सारी कहने की शैली, बाईबल से बिल्कुल अलग है। ऋषि कोई कहानी कह ही नहीं रहे हैं, उनकी बात को कविता कहा जा सकता है। सूक्त में एक गहरी *भाव–भूमि* उभरती है – प्रश्न की भाव–भूमि। जहां ऋषि सृष्टि के 'होने' की – उसके क्यों और कैसे होने की – बात भी करता है वहां भी कहानी जैसा कुछ नहीं है। प्रतीक जैसे संकेत हैं, जिनको कई तरह समझा जा सकता है। 'तप', 'काम' ये किसी स्त्री–पुरुष से या स्त्री–पुरुष के चरित या घटना से कोई सम्बन्ध नहीं रखते, अनजान की गुफा में ही और गहरे ले जाते हैं। यह भी सोचो कि सृष्टि आख़िर हुई तो है! हमारे सामने है! इसके मूल तक हम जाना भी चाहते हैं – इसको समझना चाहते हैं। 'क्या है' का प्रश्न उधर ही तो बढ़ता दिखता है। लग सकता है कि ऋषि भी किसी सृजन–कर्त्ता ईश्वर की बात करता है – पर वह किसी कहानी का ईश्वर नहीं है जो कुछ कुछ हम जैसा ही होता है। ऋषि तो किसी अनकहनी को ही कहना चाहता है – 'वह एक था', पर तप की महिमा से उस एक ने जन्म भी लिया। इस तरह किसी *घटना* की बात नहीं की जाती! यहां किसी अनजान की ओर ही इशारा हो सकता है – या ऐसे किसी तत्त्व की ओर जो विचार के भी परे हो। फिर यह भी सोचो कि ऋषि अंत में क्या कहता है – कौन जाने सृष्टि जिससे आई वह इसका धारण भी करता है या नहीं, सृष्टि का कोई अध्यक्ष है भी तो क्या वह इसको जानता भी है? ऋषि किसी भी श्रद्धा के शत्रु ही ठहरते हैं। हमें प्रश्नों में तैरता त्रिशंकु ही बना रखते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(फिर अपनी पहले–कही बात पर आते हुए) : पर बाइबल की कहानी पर थोड़ा और ध्यान दो। कहानी में जिसे 'कैद' कहा जा रहा है, हमारा तो वही जगत् है, हमारे लिये तो वही सृष्टि है – उसीमें हम रहते हैं, उसे ही जानते हैं – अपनी इन्द्रियों से, मन से, बुद्धि से। सिद्धर्षि उस दिन इसे ही तो व्यवहार कह रहा था, या संसार कह लो – हमारे जीने–रहने का संसार। फिर वह स्वर्ग क्या था जहां से ईश्वर ने हमें देशनिकाला दिया? उसकी सृष्टि कब हुई? कहानी नहीं बताती। पर वह स्वर्ग है और ईश्वर वहीं रहता है; तो क्या स्वर्ग अलग से रचा गया या ईश्वर के साथ पहले ही से था, जहां ईश्वर सदा से रहता था? कहानी कुछ ऐसा ही मान कर चलती है। पर वह पहले ही से हो तो यह नहीं कह सकते कि ईश्वर ने 'कुछ नहीं' से सृष्टि को उत्पन्न किया। यह भी नहीं कह सकते कि ईश्वर स्वयं–सम्पूर्ण था। तो क्या उसने दो अलग सृष्टियां रचीं? एक स्वर्ग, और दूसरी यह धूसर धरती जहां हम अपने पाप के कारण कैद हैं? पर पाप तो जानबूझ कर ही हो सकता है। उसके लिये हमारा ज्ञान और कर्म में स्वतन्त्र होना आवश्यक है। पर हमने पाप ही यह किया कि ज्ञान का लालच किया। कहना क्या चाह रही है कहानी? कुछ बात समझ में नहीं आती। यह भी सोचो कि यह कहानी कैद में ही कही जा रही है जहां हम पापी हैं, ज्ञान की चाह के पापी हैं, पर ज्ञान हमें मिला नहीं है। तब यह कहानी हमें सत्य का ज्ञान कैसे दे पा रही है? कहा जाता है कि सत्य मनुष्य पर इसलिये खुला कि ईश्वर ने उस पर रहम किया। अपने किसी ख़ास आदमी के माध्यम से उस पर सत्य का इलहाम किया – अपने किसी कृपा–पात्र पर, बेटे पर या दूत पर, इसे प्रकट किया। अब अगर मनुष्य अपना उद्धार चाहता है तो यह सत्य और उसका ज्ञान उसके लिये आवश्यक है। पर वह इस पर सवाल नहीं उठा सकता। आदमी को चाहिये कि इस पर पूरी आस्था रखे, नहीं तो वही अपराध, वही पाप, होगा जिसने उसे स्वर्ग–निकाला दिया था। कहानी भी अपनी तरह से एक कैद ही है – बुद्धि की कैद। सवाल फिर भी उठते ही हैं। इस इलहाम के पहले क्या हमें ईश्वर ने सत्य से वंचित रखा था? क्या हम जानते ही नहीं थे कि हमने कोई अपराध किया है? पर सर्वज्ञ ईश्वर तो जानता ही होगा कि हम अपराध करेंगे – और हम क्या, वही अपराध करेगा क्योंकि हम उसीके प्रतिरूप हैं! अपराध से पहले हम ईश्वर को ऐसे कठोर स्वामी के रूप में जानते भी थे क्या जो ज्ञानी हो कर भी हमें ज्ञान से दूर रखना चाहता है? तो क्या ज्ञान का होना ही दोष है? फिर तो ईश्वर से बड़ा दोषी कौन हो सकता है!

(कुछ रुक कर) : कहानियों में सृष्टि की बात कहो तो यही नहीं और भी दूसरी, मोटी, स्थूल सी उलझनें स्वाभाविक हैं। सच यह है कि सृष्टि और उसमें हम जैसे हैं, हमारा वैसा होना एक दुर्गम रहस्य है, इसका सीधा–सरल सा समाधान क्या हो सकता है? ऐसी किसी कहानी से तो नहीं किया जा सकता जैसी बाइबल कहती है। पर यह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सोचो कि इसे कहानी नहीं सच ही माना जाता था – ईसाइयों का रहन-सहन, जीवन के विधि-विधान, सोच-समझ, सबकी ज़मीन है यह कहानी। इस पर सवाल नहीं उठाया जा सकता था। आज इस पर ईसाई-जगत् अगर सवाल उठा सकता है, इसको 'कहानी' कह कर इससे किनारा कर सकता है, या इसको प्रतीकों में कहा गया रूपक कह कर इसके सूक्ष्म संकेत उभार सकता है तो इसलिये कि वह प्रश्न का और स्वतन्त्र विचार का मोल करने लगा है। मैंने अभी कहानी को रूपक कहा। कहानी को रूपक मान कर ही इस पर विचार किया जा सकता है – फिर उस विचार के भीतर से इस पर प्रश्न उठाये जा सकते हैं। फिर यह भी विकल्प खुल जाता है कि कहानी को हम किसी सत्य का संकेत स्वीकार करें या न करें – करें तो किस रूप में करें। चेतना में थोड़ा सा भी युक्ति-बोध जागे तो दिख जाता है कि सृष्टि की इस 'कहानी' को किसी सच्ची घटना का ब्यौरा तो बिल्कुल ही नहीं माना जा सकता। हम जिसे 'घटना' कहते हैं उसके 'होने' के लिये तो पहले जिस जगत् में हम रहते हैं उसका होना आवश्यक है! और तब ईश्वर का 'कुछ करना' भी हम जैसा 'करना' ही हो सकता है – और फिर ईश्वर हम जैसा ही कोई मनुष्य हो सकता है, हां, हम से कहीं अधिक बुद्धिशाली और कहीं अधिक शक्तिशाली सही। पर, साफ़ ही, ऐसी बातें युक्ति-विचार के गले नहीं उतर सकतीं। जिस घटना की बात हो रही है वह 'हो' ही नहीं सकती। फिर ईश्वर को कोई राजा-महाराजा जैसा जीव बना देना, यह युक्ति की बात नहीं हो सकती। ईश्वर ने अपनी छवि पर हमें बनाया, तो क्या हम उसे अपने जैसा बना दें? कितना ही रूपक या प्रतीक मानो, कहानी तो कहानी ही रहती है। झूठा जंजाल खड़ा करती है। उसे प्रतीकों में कहां तक ढाला जा सकता है? पर चलो कहानी ही सही, तो फिर कहानी दूसरी भी हो सकती थी, अधिक अर्थभरी – सृष्टि की कहानियां हर कहीं कही जाती हैं। पर ईसाई इस कहानी को सत्य मान कर इससे बँधे हैं और तभी बाइबल की इस कहानी का जितना असर रहा है दूसरी कहानियों का वैसा कहीं नहीं रहा। यह कहानी तो अजीब और मायूस ही नहीं, बड़ी घुटन भरी है – कटघरे में कस देती है हमें और फिर कुछ पूछने-सोचने की भी जगह नहीं देना चाहती। ज्ञान की दुश्मन है, प्रश्न की प्रवृत्ति को ही कुचल देना चाहती है। तभी पश्चिम के इतिहासकार कहते हैं कि पश्चिम में जब पुराने ग्रीस की प्रेरणा ने फिर सिर उठाया तो उसमें पुनर्जागरण आया, ईसाइयत के प्रभाव से कुछ मुक्त हो कर खुली जिज्ञासा और प्रश्न करने की खुली प्रवृत्ति फिर से जागने लगी, विचार फिर से स्वतन्त्र हुआ। ऋग्वेद के ऋषि में ख़ास बात ही यह है कि वह पहेली को पहेली, प्रश्न को प्रश्न ही रहने देता है – सृष्टि को प्रश्न की गहरी से गहरी पहेली के रूप में उभारता है जो कि सृष्टि का होना विचार के लिये सदा रहेगा। देखो, सूक्त का आरंभ कैसी रहस्यभरी पहेली से है और अंत में भी प्रश्न ही है – ऐसा प्रश्न जो विचार को सदा ललकारता रहेगा, अथाह, अगाध की ओर ले जाता रहेगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(पल भर रुक कर, एक दूसरी बात को मन ही मन तोलते हुए) : पुराणों में, और अपने यहां के लगभग सारे सोच–विचार में यह मत उभर कर आता है कि सृष्टि अनादि और अनंत है। न उसका कोई आरम्भ था न अंत होगा। वह बस चलती रहती है। अपनी ही गति से चलती रहती है। इसके लिये किसी सृष्टि के कर्त्ता ईश्वर को अलग से मानने की ज़रूरत नहीं। जो मान भी लेते हैं उनके लिये भी सृष्टि की गति ईश्वर से स्वतन्त्र ही रहती है। ईश्वर बस उसका अध्यक्ष होता है और उसका धारण करता है। पर एक बात ध्यान देने की है। मनुष्य यहां भी सृष्टि का सिरमौर है – उसीमें विचार है, ज्ञान की संभावना है। और यह सृष्टि दुःख की खान है। पर अपने यहां एक बात देखो – यहां ज्ञान कोई बुरी बात नहीं है, पाप नहीं है, उलटे, ज्ञान ही मनुष्य को मुक्ति दे सकता है। यह सृष्टि अनादि, अनंत हो, पर उसके लिये बंधन है – अनादि, अनंत संसार रूपी बंधन। भवचक्र या भवरोग। यहां मनुष्य अपने ही से पराया रहता है। मनुष्य में संसार में रमने की चाह है, आसक्ति है, और इस चाह के बस वह कर्म करता रहता है, पर वही उसे संसार से बाँधे रखता है। उसे बार बार यहां जन्म लेना पड़ता है – संसार के इस सदा–चलते दुखचक्र में फँसे रहना पड़ता है। आसक्ति से और आसक्ति से होनेवाले कर्म से मुक्ति ही मनुष्य को भवचक्र से छुटकारा देती है। यहां भी एक गहरा सवाल उठता है : कर्म तभी संभव हो सकता है जब संकल्प स्वतन्त्र हो, जो कर्म किया जाये दायित्व के साथ किया जाये, तभी वह कर्म होगा। लेकिन भवचक्र अगर अनादि है और सृष्टि के स्वरूप में ही समोया है तो हम कर्म कर ही कैसे सकते हैं – सृष्टि का प्रवाह और उसकी गति अनादि काल से चक्र की तरह नियत है, और हम उसीसे बँधे हैं तो 'हमारे' अलग, स्वतन्त्र कर्म का अर्थ ही क्या होगा? संकल्प का कहीं आदि होना चाहिये जिसके लिये इस चक्रव्यूह में कोई स्थान नहीं। पर यह भी सोचो कि इस पूरे विचार में मनुष्य के स्वतन्त्र होने पर ज़ोर है – अपनी स्वतन्त्रता का ज्ञान ही उसे बंधन से छुड़ाता है – सृष्टि के बंध–स्वरूप का ज्ञान, और अपने मुक्त–स्वरूप का ज्ञान और मुक्ति के उपाय का ज्ञान। पर एक बात और सोचो। एक स्वतन्त्रता तो हम में सहज है – सोचने की स्वतन्त्रता। हम जहां जिस सृष्टि में हैं, उससे स्वतन्त्र न हों तो उसके बारे में सोच ही क्या सकते हैं? कुछ कह ही क्या सकते हैं? अगर हम पूरी तरह उसीके प्रवाह में होते, या उसीके चक्र में कहो, जैसे कि दूसरे जीव–जंतु हैं, नदी–नाले हैं – तो फिर सृष्टि क्या है? कैसे और क्यों आई, या कि सदा से थी? ऐसे सवाल उठ ही नहीं सकते थे। सवाल तो सृष्टि नहीं उठाती, सृष्टि को अलग से देख सकने वाला द्रष्टा ही उठा सकता है! हम द्रष्टा के रूप में स्वतन्त्र हैं, तभी हम जब होने के बारे में सोचते हैं तो होने से हट कर सोचते हैं – और तभी यह प्रश्न को घर–देता विचार हममें अपने आप जाग उठता है कि जो है वह नहीं भी हो सकता था, या बिल्कुल कुछ और हो सकता था।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तभी 'होने' की धारणा के साथ 'नहीं होना' अपने आप आ जुड़ता है। और तभी, इसी बात के कारण ही, 'होना' और 'नहीं होना' दोनों ही एक तीखी पहेली हो जाते हैं। हम किसी कुछ के होने की कल्पना कर सकते हैं, और बिल्कुल कुछ नहीं होने का भी विचार कर सकते हैं!

(कुछ तिलमिला कर) : हम द्रष्टा तो हैं, पर बड़े अजीब बौखलाये हुए से द्रष्टा हैं, हम प्रश्न तो कर सकते हैं – ऋषि प्रश्न कर ही रहे हैं – विशुद्ध प्रश्न; उत्तर न ऋषि के पास है, जिनमें दिव्यदृष्टि मानी जाती है, न हम ही देख पाते हैं! उत्तर पर भी प्रश्न ही उठा सकते हैं। हां, हम विचार कर सकते हैं। पर हमारा विचार प्रश्न से ही बिंधा रहता है। प्रश्न और विचार का कहीं भीतर का संग है। पर, फिर हम देखते क्या हैं? सत्य का कोई भी छोर हमें दिखता है क्या? लगता है, हमें बस इतना ही दिखता है कि हम सत्य नहीं देख सकते! बड़ी भीषण–विकट स्थिति है। ऋषि के उत्तर–हीन, गूँजते प्रश्न में भी यही इशारा है।

सिद्धर्षि : विचार को तुम स्वतन्त्र कह रहे हो। माना। यह भी ठीक है कि हम सत्य को पाने के लिये विचार ही कर सकते हैं। पर अनर्गल तो नहीं कर सकते! विचार के अपने बंधन हैं – या कहो कि अपने रास्ते हैं, रूप हैं, नियम हैं । बेतुकी बात विचार के गले नहीं उतरती। तुम ऋषि की बात को कितनी ही ऊँची–ऊँची या गहरी–गहरी कहो, मुझे तो उस में तुक नहीं दिखाई देता। असत् का 'नहीं होना' क्या होगा? 'होने' को तो सत् ही माना जा सकता है। किसी कुछ 'होने' के 'नहीं हो जाने' की बात समझ में आती है। चीज़ें बदलती हैं – अभी कुछ हैं, अभी कुछ और हो गईं। पर कुछ मिटता है तो कुछ और बन जाता है – 'होना' ही नहीं मिट जाता। सत् ही असत् नहीं हो जाता। 'कुछ नहीं होना' 'होने' को ही ध्यान में रख कर, होने की ही धरती पर समझ में आ सकता है। उस दिन किसी के तीये पर गीता का श्लोक पढ़ा जा रहा था। मुझे एक लाइन बिल्कुल याद रह गई है : *नासतो विद्यते भावः, नाभावो विद्यते सतः* – यह ऋषि से भी ऊँचे व्यक्ति की बात है; भगवान स्वयं कहते हैं कि असत् का 'होना' नहीं हो सकता और सत् का 'नहीं होना' भी नहीं हो सकता। सीधी–सच्ची सी बात है, पर हम इसे भूल जाते हैं – विचार को किसी विचित्र आकाश में उड़ा कर विलीन कर देते हैं, कटी पतंग की तरह पागल हवाओं के भरोसे। युक्ति–तर्क का तो पल भर में श्राद्ध कर देते हैं – उसे तिलांजलि देते ज़रा भी ज़ोर ही नहीं आता। फिर हम जैसे बहकते हैं उसे विचार तो नहीं कहा जा सकता! असत् अपने आप में क्या होगा? और फिर सत्–असत् दोनों के नहीं होने की बात करना तो अपने आप को ही काटती हुई, मिटाती हुई, कुछ–नहीं–कहती बात ही हो सकती है। होने का 'है' सदा 'है' ही रहता है। और होना तो सत् ही हो सकता है, असत् तो सत् को ही आँकने–समझने की एक बुद्धि–कल्पना है। कल्पना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सत् नहीं होती। पर चलो उसे एक तरह का 'होता हुआ' असत् ही कह लो, क्योंकि वह नहीं होती हुई भी किसी अर्थ में 'है' कहला सकती है। पर उस असत् को तो फिर 'है' ही कहना पड़ेगा, वह विचार की अपनी प्रक्रिया में 'होता है', उसके एकदम से 'नहीं होने' की बात के क्या मानी? (विचार को दौड़ाते हुए) : विचार की प्रक्रिया में नहीं होना वैसा ही है जैसे गणित में धन के साथ ऋण का होना। ये उस प्रक्रिया में ही होते हैं, किसी वास्तव असत् की ओर इंगित नहीं करते – *नासतो विद्यते भावः* । हम कहते हैं, घड़ा यहां है, वहां नहीं है; अभी है, पहले नहीं था, आगे नहीं होगा; यह भी कहते हैं कि यह घड़ा है, कपड़ा नहीं है। असत् का यों धारण कर पाना विचार में सम्भव है, यह भी ठीक है, क्योंकि इसके बिना सत् की भी बात नहीं की जा सकती – पर असत् का धारण करता यह विचार सत् का उपजीवी है, या होना चाहिये, नहीं तो ख़ामख़याल हो जाता है। (फिर अचानक पृथु की ओर देखते हुए) : ऋषि भी देखो सत् और असत् दोनों के 'नहीं होने' के साथ किसी 'एक' के होने की बात करता है। ऋषि क्या कहना चाहता है, मेरी समझ में नहीं आया – बात युक्ति की है ही नहीं। पर एक व्याख्या मुझे सूझती है। यह कि सृष्टि के पहले सृष्टि की *संभावना* थी और उसके बीज के रूप में किसी 'एक' की ही कल्पना हो सकती है, क्योंकि सृष्टि एक है – नहीं तो हम उसकी बात ही नहीं कर सकते, उसमें रह भी नहीं सकते – सब कुछ विच्छन्न हो कर बिखर जायेगा, सारा होना और समझना सब टुकड़े टुकड़े, बेमानी, अस्त–व्यस्त हो जायेगा। संभावना के उस 'एक' को सत् या असत् दोनों से अलग कह सकते हैं, या दोनों ही कह सकते हैं, क्योंकि वह सृष्टि के बाहर है - अभी 'हुआ' ही नहीं है। उसके बारे में यह भी कह सकते हैं कि उसका अपना कोई स्वरूप नहीं है वह होने की सम्भावना मात्र है – होने का कुछ भी स्वरूप हो, वह उसे उस–स्वरूप में रखेगा। यह बात इसलिये कह रहा हूं क्योंकि संभावना तो अपने आप में बहुमुखी होती है, कई रूप ले लकती है : सृष्टि जैसी है उससे भिन्न भी हो सकती थी – पृथु बार बार इस बात को कह ही रहा है – पर जैसी भी हो छिन्न–भिन्न तो नहीं होगी – तब तो हुई ही क्या? पर जो भी होगी संभावना का 'एक' उसे स्वरूप देगा। अब, ऐसी संभावना को अपने आप में सत् या असत् दोनों ही कह सकते हैं - या उसे सत् और असत् दोनों से बाहर भी कह लो। फिर भी सच्ची बात यह है कि होने को मान कर ही सम्भावना की बात हो सकती है – सम्भावना होने की होती है, या 'नहीं' होने के होने की होती है।

(फिर जैसे अपनी अब तक की बात पर सोच कर अपने पर ही गुस्सा करते हुए) : मैं भी तुम लोगों के कुसंग में पड़ कर कैसा भटक गया हूं। हवाई बातों को बारीक बारीक कातने में लग गया हूं। सच पूछो तो ऋग्वेद की सृष्टि के पहले की यह सारी की सारी बात मुझे तो बस यूं ही कह दी गई बात लगती है, चाहे किसी महान और सत्य–

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

द्रष्टा कहलाते ऋषि ने ही क्यों न कही हो। माना सत् और असत् का प्रश्न एक गहरी पहेली है, हमारे ही होने के साथ उलझी हुई पहेली है। हम जब से सोचते-समझते हैं, इसका उत्तर खोज रहे हैं और खोजते रहेंगे। पर बात के साथ खिलवाड़ भी हो सकता है और साफ़ लगता है कि ऋषि वही कर रहा है। अपनी बात में गहराई का छलावा लाने के लिये एक अनबूझ पहेली सी खड़ी कर दी है किसी ऋषि ने – इससे ज़्यादा इस सूक्त में कुछ अर्थ, कुछ रहस्य नहीं है।

(सर झटक कर, जैसे अनचाही बात को झाड़ कर दूर करते हुए और जो पहले कह चुका है उसे फिर से आगे लाते हुए) : ज़रा फिर से सोच कर देखो। मैं सम्भावना की बात कर रहा हूं, पर ऋषि के मन में 'सम्भावना' की बात नहीं है। होती तो कहता। वह तो 'होने'–'नहीं होने' की असंभावना को साथ मिला कर शब्दों के मेल से अनबूझ पहेली खड़ी कर रहा है। सत् और असत् दोनों के नहीं होने की बात पर ज़ोर दे रहा है। पर 'नहीं होने' का अपने आप में क्या अर्थ हो सकता है? किसी 'होने' को मन में रख कर ही नहीं होना बनता है, अपने आप में तो 'नहीं होना' एक खोखला शब्द ही है - बस एक कहने की ही बात है जो कविता में झूठा चमत्कार जगा दे सकती है, जैसे किसी अति प्राचीन सत्यद्रष्टा कहलाते ऋषि के नाम पर चलते इस बेढब से सूक्त में। ऋषि की बेतुकी बातों में थोथी कल्पना की बेलगाम उड़ान है, और कुछ भी नहीं।

(कुछ और सोच कर, अजीब परेशानी के साथ) : एक बात और कहूंगा। पृथु ने जो बाइबल और पुराणों की बात की उसमें सृष्टि की सारी बात हमारी समझ से निकल कर परियों जैसी कहानी हो जाती है, आदमी ही परलोक या लोकोत्तर-केन्द्रित हो जाता है। आदमी का समूचा जीवन और उसका लक्ष्य ईश्वर या देवताओं के हाथ सौंप दिया जाता है, जिनके होने का कोई प्रमाण न दिया जाता है, न है। सारी बात हम जिस 'क्या है' के प्रश्न को ले कर चले थे, उससे कहीं दूर निकल जाती है। हमारी चर्चा ही रास्ते से हटती दिख रही है मुझे। (कसमसा कर) ; तुम सब कहोगे कि मैं ही तो व्यवहार को विचार का केन्द्र बना रहा था, उसे 'होने' की कसौटी के रूप में देख रहा था – और व्यवहार ' क्या होना चाहिये' को केन्द्र में रखे बिना नहीं होता, और 'क्या होना चाहिये' कोई प्रत्यक्ष दिखती चीज़ नहीं है – इस मेज़ या समोसे की तरह – या उस पत्थर के टुकड़े की तरह। अब उस दिन कहीं मैंने सुना कि 'क्या है' के जान लेने से 'क्या होना चाहिये' नहीं जाना जाता। माना। फिर मैं क्यों शिकायत कर रहा हूं? पर मैं समझता हूं कि 'क्या होना चाहिये' भी ऐसे प्रमाण की माँग करता है जो बुद्धि-विचार की मुट्ठी में आ सके। लेकिन धर्मग्रंथ! इन्हें 'क्या है' से कोई मतलब नहीं – 'क्या होना चाहिये' या 'हमें क्या करना चाहिये' इन प्रश्नों को ये प्रमाण के घेर से ही निकाल देना चाहते हैं। ये बात ही जो 'है' उसके बाहर की करते हैं, जबकि हमारा व्यवहार इसी ठोस धरती पर होता है, इसके नियमों को मान कर चलता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आकाश : (सिद्धर्षि की ओर देखते हुए, समझाने के स्वर में) : मगर सिद्धर्षि, क्या होना चाहिये, हमें क्या करना चाहिये, कैसे रहना चाहिये, क्या साधना चाहिये, ऐसे प्रश्नों पर विचार करने के लिये भी तो 'मनुष्य क्या है' यह प्रश्न उठता है; मनुष्य के स्वरूप को, हमारे अपने ही स्वरूप को जानना ज़रूरी होता है। हमारे व्यवहार को क्या होना चाहिये, हमें क्या होना चाहिये यह विचार हम अपने को जाने बिना तो नहीं कर सकते! 'क्या होना चाहिये' के प्रश्न का हम कोई भी उत्तर दें, वह 'हम क्या हैं, हमारा आत्म – स्वरूप–स्वभाव – क्या है', इस पर निर्भर करेगा। और इस प्रश्न पर सोचोगे तो क्या यह विचार नहीं जागेगा कि मनुष्य सदा से परलोक की, देवताओं की, ईश्वर की बात करता आ रहा है – खास कर मनुष्य के होने का अर्थ क्या, उसे क्या करना चाहिये, कैसे जीना चाहिये, इस प्रसंग में। हम विचित्र जीव हैं, हमेशा से मानते आये हैं कि मृत्यु में हमारा अंत नहीं होता। इस लोक से परे भी लोक हैं जहां मृत्यु ले जाती है – और ये लोक ही सत्य हैं, शाश्वत हैं। हां, इस बात का संबंध किसी ऐसी पकड़ या दृष्टि से है जो साधारण बुद्धि से परे है – फिर भी लोक–बुद्धि में ऐसी दृष्टि सदा जागती रही है। यह दृष्टि अदृष्ट को देखती है और उसे ही प्रमाण मानती है। अपनी बात को यह दृष्टि अकसर बड़ी सीधी, बच्चों जैसी कहानियों में कहने की भी आदी है – या अनुष्ठानों में व्यक्त करती है, जो हमें व्यर्थ के क्रिया–कर्म भी लग सकते हैं। हम युक्ति–विचार के नाम पर इस सब को मिथ्या या मिथक कह कर उड़ा देने में तत्पर रहते हैं – पर अदृष्ट के बिना भी हम क्या होंगे? हमारे आदर्श, हमारी कोई भी गहरी साधना, उसका सत्य, ऐसे अनुभव जहां हम अपने को सचमुच अपने आप में पाते हैं, किसी अदृष्ट बोध के बिना इनकी कल्पना भी हो सकती है क्या? हम मिथक के विरोध में युक्ति–बोध की बात करते हैं, पर तर्क या युक्ति ये भी तो एक तरह के अदृष्ट ही हैं, इनको हम देख–छू तो नहीं सकते। फिर यह देखो कि कोई तर्क या युक्ति अपने आप में क्या कहती है? एक युक्ति दूसरी को काट दे सकती है। उसकी कोई अपनी दृष्टि तो होती नहीं – पर, 'क्या होना चाहिये' इसका ज्ञान दृष्टि की माँग करता है – हां, प्रमाण की भी माँग करता है, पर इसका प्रमाण इन्द्रियों से नहीं मिलता। दृष्ट की कोटि में नहीं आता। हम कह सकते हैं कि बाइबल, पुराण, इनमें अंधविश्वास भरे हैं और इनकी कई प्रवृत्तियां, कई विधि–विधान बड़े रूढ़, अनगढ़, स्थूल हैं – पर यह बात हमारा ऐसा बोध कहता है जो सामने खड़े दृष्ट को ही सब कुछ नहीं मानता; यह बात हमारी संवेदना, हमारी प्रज्ञा कहती है, विशुद्ध युक्ति या तर्क नहीं – ये तो अपने आप में कुछ कहते ही नहीं।

पर, सिद्धर्षि, पुराने ऋषियों को छोड़ो, आज के वैज्ञानिकों को लो। वैज्ञानिकों को तो तुम सत्यद्रष्टा मानते हो न? विज्ञान तो 'होने' की ही क्या, एक दम से *ठोस* होने की धरती पर खड़ा रहता है। और इस ठोस 'होने' को फूँक फूँक कर देखता–जाँचता है,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसकी तह में उतरता है। जिस आँखों-दिखते, पाँवों-को-सहारा-देते, हमारे-सारे-व्यवहार-को-घर-देते दृष्ट 'होने' के बिना 'होने' की तो क्या, 'नहीं होने' की भी तुम्हारे लिये कल्पना दूभर है, विज्ञान उसी ठोस 'होने' के मूल तक, बिल्कुल उसके निचले पैंदे तक उतर के उसके स्वरूप की परख करना चाहता है। पर अब इतनी गहराई तक नीचे उतर गया है कि यह सवाल भी उसे सता रहा है कि है कि जो 'है' उसका मूल क्या था? वह कहां से आया? विज्ञान भी अब वही सवाल पूछ रहा है जो ऋषि ने पूछा था – सृष्टि का आरम्भ कैसे हुआ? काहे से हुआ? अभी जो है उससे पहले क्या था? इसका कोई भी उत्तर दो, वह अदृष्ट के ओझल आकाश में तो ले ही जायेगा। आज विज्ञान उस ओर भी दृष्टि जमाये है। वह 'है' की दिखती सतह के नीचे देख कर उसके अनदिखते आरम्भ की बात कर रहा है; सृष्टि का इतिहास 'होने' के बाहर से शुरु करता है। उस इतिहास की कहानी कुछ तो तुमने सुनी ही होगी। उस पर ज़रा ध्यान दो। तुमने संभावना की बात की। मैं समझता हूं कि वैज्ञानिकों के मन में भी कुछ ऐसी ही बात है। उनके लिये भी सृष्टि के पहले की स्थिति को सृष्टि की संभावना कहा जा सकता है, हालांकि वे इस शब्द का प्रयोग नहीं करते। 'सम्भावना' का होना कैसा होता है? साधारण होने से अलग होता है। तुमने ठीक ही कहा कि 'सम्भावना' में 'होना' और 'न होना' दोनों साथ होते हैं। पर किसी जानी-पहचानी मामूली *चीज़* की सम्भावना, उसके होने-न होने में, और जगत् के ही होने-न होने में, तो पतें का भेद होगा। हम जिसे 'कुछ' या 'कुछ चीज़' कहते हैं वह 'होते हुए' जगत् और उसकी योजना के भीतर ही दूसरी चीज़ों में एक चीज़ होती है। उसकी सम्भावना जगत् के 'होने' के भीतर ही समाई हुई होती है, तभी उसके 'हो सकने' की बात युक्त होती है – और वैज्ञानिक के लिये वह ऐसा 'हो सकना' होता है जिसकी भविष्य-वाणी की जा सकती हो। इस 'हो सकने' को किसी हो चुकी घटना के कार्य के रूप में देखा जाता है, और उसकी संभावना को कारण के रूप में। विज्ञान यही करता है। पर इस दृष्टि से देखो तो जगत् को अनादि होना चाहिये। जगत् की सृष्टि की बात ही नहीं उठनी चाहिये। क्योंकि कार्य-कारण के सिलसिले का कोई अंत तो हो नहीं सकता। साधारण दृष्टि से देखो तो कार्य-कारण की बात आम लोक-बुद्धि की बात है। कुछ हुआ तो हम सोचते हैं कि उसका कारण ज़रूर होगा। यही दृष्ट-बुद्धि की भी बात है – नहीं तो बात चमत्कार की हो जाती है जिसका कोई कारण नहीं होता। ऋषि के लिये जगत् का होना चमत्कार ही है। विज्ञान के लिये नहीं हो सकता। उसमें चमत्कार या अदृष्ट के लिये स्थान नहीं। विज्ञान हमारी जगत् की समझ से रहस्य को हटा देना चाहता है – किसी कुछ को समझने के लिये उसके पकड़ में आते कारण की समझ वैसे भी रहस्य की शत्रु होती है। मगर ऋषि के लिये जगत् एक रहस्य है, उसका होना, उसमें हमारा होना, सभी रहस्य में डूबा है। सृष्टि अनजान पहेली है। यह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पहेली जागती इसलिये है कि जगत् एक गूढ़ अचंभा है। पृथु मन से कवि है, उसे लगता है कि पल पल का विस्मय है यह जगत्, हैरानी में डाले रखता है। अगम सा लगता है इसका स्वरूप – इसका जन्म। ऋषि की बात से भी यही उभरता है। तभी पृथु को ऋषि का सूक्त चुभ गया। वैज्ञानिक के लिये जगत् ऐसा कुछ नहीं है – उसने इसे समझने का ही नहीं, इसके साथ मनचाही करने का रास्ता निकाल लिया है। सच पूछो तो वैज्ञानिक के लिये जगत् सदा वही होना चाहिये जो अब है – नियम-बद्ध, कार्य-कारण के वश में। फिर भी वैज्ञानिक भी आज जो सृष्टि के आरंभ की पहेली की ओर ध्यान दे रहे हैं और इसे सुलझाने की कोशिश करते हैं तो इसलिये कि उनको लगता है कि उनके पास पक्का जवाब तैयार है, और उन्होंने जो पाया है वही मानो हठात् अपने होने के परे एक आरंभ की ओर ले जाता है। उनकी धाक इतनी है कि हम उनकी बात कान दे कर बड़ी श्रद्धा से सुनते हैं – आस्था से उसका ग्रहण करते हैं, मानो होने की ठोस पकड़ का ही एक नया ठोस विस्तार मिल गया हो। पर जगत् की सृष्टि की बात करते हुए वैज्ञानिक को भी पहेली का भान होता है। जगत् का होना और जगत् को मान कर वस्तुओं का और उनके नियत सम्बन्धों का होना, इसमें घोर अंतर है। फिर भी वैज्ञानिक को लगता है कि जगत् के होने को जगत् के बाहर रख कर समझे बिना जगत् के होने को भी नहीं समझा जा सकता।

(प्रसंग में आई एक बात को बढ़ाता है) : आगे बताता हूं, पर पहले एक बात सोचो। मैं अभी अभी सोच रहा था। हम 'क्या है', 'क्या क्या है' के बड़े सीधे से, बड़े दृष्ट से प्रश्न से चले थे। पर सामने दिखती चीज़ों को न गिनाया जा सकता है, और न गिनाने से बात बनेगी, यह हमारी जल्दी समझ में आ गया था। यों देखो – विशेष से हम सामान्य की ओर बढ़े थे, और मैं सोचता हूं कि सामान्यों का होना बड़ा विचित्र होता है। सामान्य विशेष की तरह प्रत्यक्ष नहीं होता, देश-काल में नहीं रहता। समोसा-सामान्य में वे समोसे भी आते हैं जो खाये जा चुके, अब नहीं रहे, और वे भी जो अभी बने नहीं हैं। पर चलो इसे खींच-तान कर देश-काल की ही बात कह लो – हालांकि वह देश-काल – सामान्य की ही बात होगी – पर समोसा-सामान्य में समोसा क्या होना चाहिये, समोसा बनाने का यह आदर्श भी होता है जो किसी देश-काल में नहीं रह सकता। पर आदर्श को भूल जाओ तो भी सामान्य अदृष्ट ही होता है, क्योंकि सामान्य विचार में ही रहता है, पर उसीसे हम दृष्ट को पकड़ सकते हैं। सामान्य को हम विचार की आँख कह सकते हैं जो देखने-सुनने से या प्रत्यक्ष से बड़ी भिन्न होती है, पर उस आँख के बिना हमारी समझ ही अंधी होगी। न प्रश्न होंगे, न उत्तर – न चीज़ का कोई नाम होगा, न चीज़ नाम की कोई चीज़। 'चीज़' भी एक सामान्य ही है – इसमें सब चीज़ें, सब तरह की चीज़ें आ जाती हैं। पर यह भी देखो कि सामान्यों की एक अपनी बुनावट भी होती

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। सामान्य अलग अलग नहीं रहते – जैसा कि हमें लगता है चीज़ें अलग अलग अपने आप में रहती हैं – तभी हम क्या क्या है को एक एक कर के गिनाने की बात सोच भी सके थे। यों सामान्य भी अलग किये जा सकते हैं – समोसा–सामान्य मेज़–सामान्य से अलग है, पर दोनों ही 'काम–की–चीज़' इस सामान्य में समा कर एक हो जाते हैं – इस विस्तार में एक हुए बिना उनको अलग भी नहीं सोचा जा सकता। उनका अलगाव इस विस्तार से ही निकलता है, और सामान्य का विस्तार बढ़ता चला जाता है, होना–सामान्य या सत्–सामान्य तक पहुँचता है। यही जगत् का घेर है। तभी यह बात ठीक है कि जगत् क्या है यह समझे बिना जगत् में क्या है या क्या क्या है, यह कैसे समझा जा सकता है? हम जब पूछते हैं कि क्या है और साथ में यह कि क्या क्या है, तो सवाल का इशारा पूरे जगत् की ओर होता है – उस आधार की ओर जिसमें जो भी है वह होने की धरती पाता है। पर साफ़ ही जगत् कुछ और हो सकता था, या नहीं भी हो सकता था। ऋषि की बात का संबंध हमारे ऐसे ही स्वतन्त्र बोध से है। ऋषि अलग अलग दिखती चीज़ों के ढेर की बात नहीं कर रहा, जगत् की बात कर रहा है। जगत् नहीं था तो क्या था? चीज़ें तो हो ही नहीं सकती थीं! फिर क्या था? सत् था या असत् था? या जो था उसे इन दोनों कोटियों में ही नहीं रख सकते? जब ऋषि कहता है कि तब न सत् था, न असत् था, वह जगत् के बाहर खड़ा हो कर होने–न होने की बात कर रहा है – वह यह पाता है कि तब इन दोनों की ही बात वृथा है। पर उसके मन में प्रश्न है, उत्तर नहीं। यह प्रश्न किसी जानी–पहचानी चीज़ के होने–न होने से अलग है क्योंकि चीज़ें जगत् को मान कर चलती हैं। इसलिये अगर बात इस या उस चीज़ से हटा कर जगत् के ही होने–न होने पर चली जाये तो होने के प्रश्न को ही एक और आयाम मिल जाता है। तब यह भी दिख जाता है कि जगत् का होना सचमुच ही एक अनबूझ पहेली है। लेकिन उसके बिना 'क्या है' का हमारा पुराना और जाना–पहचाना प्रश्न भी अधूरा है। हमारे लिये कुछ होना जगत् को मान कर चलता है, पर सृष्टि की मूल बात जगत् की सृष्टि की बात है जिसके बिना हम जिन चीज़ों को, घटनाओं को देखते हैं वे हो नहीं सकतीं। जगत् *में* कुछ बनता है – जैसे समोसा – तो जगत् को, उसकी चीज़ों को, उसकी योजना को मान कर बनता है। पर जगत् क्या मान कर बनता है? क्यों बनता है?

(फिर से ध्यान सिद्धर्षि की बात पर ले जाते हुए) : पर सिद्धर्षि की बात पर आओ। जगत् क्या होने से पहले सम्भावना के रूप में था? सम्भावना क्या थी, उसे हम 'अब क्या है' इसके आधार पर जानना आँकना चाहते हैं। पर यह कैसे जान सकते हैं कि वही हुआ जिसकी सम्भावना थी? और माना कि वही हुआ जिसकी सम्भावना थी, तो भी प्रश्न रहेगा कि हुआ क्या? जगत् क्या है? उसका स्वरूप क्या है? सम्भावना को हम वैसे ही आँकेंगे जैसा कि जगत् को समझते हैं, और यह समझ बहुत भिन्न–भिन्न हो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ही सकती है। अब विज्ञान जब सृष्टि की बात करता है तो जगत् को जैसा जानता–समझता है, ऐसे जगत् की सम्भावना के रूप में ही आँकता है। विज्ञान अपने परिचित जगत् को सृष्टि के बाहर एक चरण पीछे ले जा कर उसे सृष्टि का आरम्भ कहता है। यों विज्ञान सृष्टि की बात तो करता है, पर उसके साथ जो और प्रश्न उठ खड़े होते हैं उनसे कतराता है, उनके महत्त्व को नकार देना चाहता है। जब कि ऋषि के मन में यहां सवाल ही बड़ा हो कर जागता दीखता है – जो मेरी समझ में ठीक ही है। क्योंकि सवाल खड़ा ही रहता है, कोई भी उत्तर दो, फिर भी खड़ा रहता है। उत्तर तो मन में आते ही हैं, ऋषि के मन में भी सवाल के सिवा कुछ और जागता लगता है – उसके भी सोचने–समझने का एक संस्कार रहा ही होगा। पर पृथु ने ठीक ही कहा कि ऋषि जो कह रहा है उसमें प्रश्न की ही गूंज है, ऋषि का सूक्त प्रश्नसूक्त ही है; वह कोई उत्तर नहीं देना चाह रहा।

(बात का स्वर कुछ सपाट सा हो जाता है) : पर वैज्ञानिक जब सृष्टि का सवाल उठाता है तो उसके मन में उत्तर की ही गूंज बड़ी होती है। विज्ञान कहता है कि सृष्टि का आरम्भ एक परम विस्फोट से हुआ। यह विस्फोट न देश में था न काल में। देश–काल का आरम्भ तो इस आरम्भ के साथ हुआ – इसके पहले देश–काल होता भी कहां? पर वह विस्फोट इसी देश–काल की सम्भावना लिये हुए था जिस जगत् को विज्ञान जानता–परखता है। पर जब आरंभ में देश–काल नहीं था,तो कुछ सवाल हैं जिनका जवाब नहीं दिया जा सकता। वह क्या था जिसमें विस्फोट हुआ? कहां था? कब था? इन सवालों का उत्तर नहीं दिया जा सकता। जब 'कहां' और 'कब' जैसा कुछ था ही नहीं तो इन सवालों का क्या उत्तर बन सकता है? पर फिर सवाल उठता है कि जो भी था वह क्या सचमुच 'था' कहला सकता है? और भी सवाल उठते हैं : क्यों हुआ यह विस्फोट? किस लिये? क्या उसका होना पूर्व–निर्धारित था? था तो किसी कार्य–कारण की श्रृंखला में रहा होगा; पर कार्य–कारण सम्बन्ध क्या जगत् से पहले था? इस 'पहले होने' का अर्थ ही क्या हो सकता है? और नहीं था तो क्या जगत् की 'संभावना' को सचमुच संभावना का नाम दिया जा सकता है? ये प्रश्न बात को पहेली बना देते हैं। पर विज्ञान के लिये वह पहेली नहीं हो सकता। 'कुछ नहीं' या असत् भी नहीं हो सकता, क्योंकि विज्ञान जिस जगत् का अपनी तरह से स्वरूप उभारता है, उसका मूल उसी 'कुछ' में था जिसमें विस्फोट हुआ। उसे सम्भावना नहीं कह कर कह सकते हैं कि वह इसी जगत् का अव्यक्त रूप था – क्योंकि सम्भावना बहुमुखी हो सकती है। पर अव्यक्त व्यक्त का ही होने से पहले का रूप होता है – व्यक्त उसीके स्वरूप में ढला होता है। या यों कहो कि अव्यक्त की धारणा व्यक्त को ही आधार बनाती है। फिर भी प्रश्न जाग ही जायेगा कि अव्यक्त व्यक्त क्यों हुआ? उसका क्या कारण था, जब कि कार्य–कारण का सिलसिला अभी शुरु ही नहीं हुआ था? – या कार्य–कारण भी बिना हुए अव्यक्त रूप

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से था; पर इसका क्या अर्थ होगा? विज्ञान ऐसे प्रश्न उठाना नहीं चाहता, इन्हें अप्रश्न ही समझता है क्योंकि उसके सोचने के भीतर ऐसे प्रश्नों की कोई जगह नहीं। विज्ञान कहता है कि जिस अणु और ऊर्जा से बने जगत् को हम जानते हैं वह सृष्ट होने से पहले एक सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अणु-जैसा था, या ऊर्जा का पुंजी-भूत पिंड था जिस *में* वह सारी संभावनायें अव्यक्त रूप से थीं जो आज हमारी जाँच में उभरती हैं। बात कुछ वैसी सी है जैसी पुराणों में आती है : ब्रह्माण्ड की सृष्टि के पहले एक अण्ड था जिसमें समूची सृष्टि बीज की तरह सिमटी हुई थी। अब सवाल उठता है कि उस अण्ड को, या ऊर्जा-पिंड को, या सृष्टि के अणु-बीज के होने को कैसा होना कहोगे? उसे किसी भी तरह का वास्तव होना तो नहीं कह सकते। वह रहता रहस्य ही है, चाहे अव्यक्त कहो या सम्भावना ही कहो। तभी विज्ञान उसके स्वरूप के बारे में सवाल उठाना पसंद नहीं करता। जिस जगत् के बारे में विज्ञान कुछ कहना चाहता है, कुछ कह सकता है, वह तो देश-काल में ही हो सकता है, इन्द्रियों से ही जाना जा सकता है, या इन्द्रिय और बुद्धि से; पर इन्द्रियों के बिना बुद्धि से भी नहीं। पर सृष्टि के पहले जो पुंजी-भूत ऊर्जा थी या अणु था उसमें क्या इन्द्रियों की भी सम्भावना थी? इन्द्रियां भी क्या सृष्टि के पहले अव्यक्त रूप में थीं? विज्ञान इसकी बात ही नहीं करना चाहता। इन्द्रिय चेतन होती है, तभी कुछ जानती है। पर विज्ञान के लिये तो इन्द्रिय का क्या, चेतना का होना ही अलग और स्वतन्त्र 'होना' नहीं कहला सकता। विज्ञान सृष्टि के असृष्ट आरम्भ की बातं करता इसलिये है कि उसे ब्रह्माण्ड में एक विस्तार का क्रम दिखाई देता है जिसका किसी बिन्दु पर आरम्भ होना चाहिये पर जो आरम्भ-बिन्दु उसे जानी-पहचानी सृष्टि के बाहर की ओर भी जाता दिखता है। पर जो भी हो पहेली तो उठ ही खड़ी होती है। विज्ञान पहेली को पहेली नहीं रहने देना चाहता, उसके बारे में ज़्यादा बात करना पसंद नहीं करता। असृष्ट अवस्था से सृष्टि के विस्फोट को एक अकेली बेजोड़ घटना कह कर चुप हो जाना चाहता है। पर सोचो, जब देश-काल ही नहीं थे, अणु-परमाणु भी नहीं थे, ऊर्जा की गति भी नहीं थी, और इनका संकेत देता इन्द्रिय-बोध, उसे ग्रहण करती बुद्धि भी नहीं थी, तो क्या ऐसे में सृष्टि के असृष्ट अण्ड या अणु-बीज को सत् कहेंगे या असत्? मैं तो समझता हूं कि असत् ही कहना चाहिये। या ऋषि की तरह उसे सत् या असत् कुछ नहीं कहना चाहिए। हमारा कुछ कहना तो जगत् को मान कर चलता है। सिद्धर्षि के शब्दों में इसे कल्पना भी कह सकते हैं – ऐसी कल्पना जो शब्दों के सहारे अनिर्वचनीय की व्यंजना करती है। सम्भावना की बात भी एक कल्पना ही है – चाहे उसे जगत् की परिपाटियों से, नियम से, योजना से नहीं बाँध रखो, जैसा कि वैज्ञानिक उसे बाँध देता है। पर जगत् से पहले की कल्पना करो तो कल्पना रहस्य की गुफा में अनायास घुस जाती है। विस्फोट को ही लो। बात यों की जाती है कि जैसे विस्फोट *हुआ* था –

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आरम्भ में। और बात हो भी कैसे सकती है? पर काल जब था ही नहीं तो विस्फोट को भी क्या "हुआ' कह सकते हैं – और 'आरम्भ' का भी क्या अर्थ बनेगा? और आरम्भ नहीं हुआ तो क्या जगत् को '*हुआ*' कह सकते हैं? यह वैसा ही रहस्य है कि कुछ नहीं था और ईश्वर ने कहा 'हो जा' और सृष्टि हो गई। विज्ञान इस रहस्य को टाल नहीं सकता।

(थोड़ा सोच कर) : एक बात पर ध्यान जाये बिना नहीं रह सकता। विज्ञान हो या बाइबल या पुराण, सब जगत् के स्वरूप को ध्यान में रख कर ही सृष्टि के आरम्भ की कल्पना करते हैं। बाइबल और पुराण में जगत् के जड़ या भूत रूप का ज्ञान उतना महत्त्व का नहीं है – वह एक पसारा है जिसमें मनुष्य रहता है, कर्म करता है। पर मनुष्य क्या है, और इसलिये उसे क्या करना चाहिये, यही प्रश्न वहां बड़ा है। मनुष्य के लिये यह जगत् – या 'संसार' कह लो – एक बंध है, जिससे वह निकल सकता है – उसका स्वरूप ही उसे निकलने की प्रेरणा देता है। बाइबल और पुराणों में सृष्टि की कल्पना के पीछे भी यही प्रेरणा है। विज्ञान के लिये मनुष्य एक संयोग है, आगन्तुक है – अणु और ऊर्जा का ही एक जटिल रूप है, जटिलता के यादृच्छिक विकास–क्रम में उभरा है – नहीं भी हो सकता था। वास्तव में है भी नहीं। उसकी इन्द्रियां, उसकी बुद्धि सब अणु–ऊर्जा का यादृच्छिक संयोग हैं, जहां अणु–ऊर्जा ही वास्तव है, उससे जो बना है उसका अपना कोई स्वतन्त्र स्वरूप नहीं है। हम, और जिस जगत् में, जिस संसार में हम रहते हैं वह, अणु–ऊर्जा का ही इन्द्रजाल है। हमने देखा ही था कि विज्ञान अवयवी की स्वतन्त्र सत्ता को नहीं मानता। उसके लिये चेतना भी इसी इन्द्रजाल की सृष्टि है। वास्तव नहीं है। यह ठीक है कि विज्ञान की पद्धति से रसायन, जीव–जन्तु और मनुष्य को आँकने–परखने की अलग अलग विद्यायें बनी हैं, इनके अपने स्वतन्त्र क्षेत्र भी हैं। पर ये विद्यायें भी चेतना को स्वतन्त्र मानने से दूर ही रहना चाहती हैं। मूल विज्ञान तो भौतिकी को ही मानता है और यह आस्था रखता है कि सत्य तक वही जाता है। अब, चेतना को अवयवी तो नहीं कह सकते। उसके अवयव क्या होंगे? पर चेतना के बिना किसी होने की कल्पना भी क्या हो सकती है? कोई ज्ञान, विज्ञान इसका अर्थ ही क्या हो सकता है? पर विज्ञान अपनी सृष्टि–प्रक्रिया में चेतना का कोई उल्लेख नहीं करता। उसके लिये जगत् अंध है, उससे पहले उसकी सृष्टि के लिये जो हुआ वह भी अंध था।

(कुछ और अपने भीतर डूबते हुए) : सृष्टि की सारी बातों को, ऋषि की बातों को – या वैज्ञानिक की बात को भी – हम कल्पना कह कर टाल सकते हैं, उड़ा दे सकते हैं, पर कल्पना से हम किनारा भी नहीं कर सकते। और तो और, कल्पना के बिना हम सत्य की भी बात नहीं सोच सकते। सृष्टि की बात छोड़ो, कल्पना न हो तो 'क्या है' का सीधा सा सवाल भी उठेगा क्या? प्रश्न उठाना ही कल्पना की माँग करता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। कल्पना हमें स्वतन्त्र करती है। कल्पना जगह न दे तो प्रश्न कहां उठेगा, कहां बैठेगा? विचार ही कहां हो पायेगा? हमारी चेतना में कल्पना का स्थान है, तभी हम जिज्ञासा करते हैं, विचार करते हैं, ज्ञान, विज्ञान की ओर बढ़ सकते हैं – फिर उन पर प्रश्न उठाते हुए उन्हें आगे ले जा सकते हैं। पर एक बात कहूंगा। कुछ कह भी चुका हूं, मगर फिर कहूंगा। पृथु ने ऋषि के सूक्त को हमारे सामने रख कर जो प्रश्न खड़ा किया है वह 'क्या है' के प्रश्न को आयाम ही दूसरा दे देता है। उस दिन शिखा ने एक बात कही थी जो अब मेरे मन को अचानक आ घेर रही है। शिखा ने कहा था कि जो जगत् में है, वह है। यों जगत् को जगत् की 'चीज़ों' से अलग किया था। तब इस बात की ओर इतना ध्यान नहीं गया था कि जगत् की अपनी अलग सत्ता है, पर अब ऋषि के सूक्त ने ध्यान बदल दिया है। मुझे लगने लगा है कि 'क्या है' का सीधा सा प्रश्न जगत् के स्वरूप का ही प्रश्न हो सकता है – यह सामने पड़ी मेज़ या उस पर रखे समोसे के स्वरूप का प्रश्न नहीं हो सकता। और इस प्रश्न के कई भिन्न, एक दूसरे को काटते-मिटाते उत्तर भी हो सकते हैं। पर फिर भी जगत् रहस्य रह जाता है। बल्कि रहस्य और गहरा हो जाता है। जगत् को देखने की दृष्टियां भिन्न हो सकती हैं, पर क्या भिन्न दृष्टियां उसी जगत् को देख रही हैं? पर ऐसा न होने की भी कल्पना नहीं की जा सकती। फिर तो होने का ही क्या मतलब होगा? हम जगत् की बात करते हैं तो उसी जगत् की बात करते हैं जिसमें सब साथ हैं, जो सबके लिये एक है। न हो तो जगत् के बारे में एक दूसरे के विचार-विरोध को भी हम कैसे समझ सकते हैं? फिर भी यह सोचो कि पूरे जगत् को जान पाना, इसका क्या अर्थ? समोसों की पूरी दुनिया को ही हम नहीं जान सकते! क्या पूरा जानना सम्भव भी है? मैंने सामान्यों की बात की कि जगत् उन्हीं की पकड़ में आ सकता है, पर सामान्य क्या विशेष को पकड़ भी पाते हैं? यह सवाल सताता है। पर सामान्य के बिना भी क्या हम कुछ *जान* सकते हैं? जानना सामान्य के ही सहारे होता है। हम देख ही चुके हैं कि 'क्या है' के सवाल का कुछ भी जवाब सामान्य में ही दिया जा सकता है, क्योंकि शब्दों के सहारे हम सामान्य को ही पकड़ते हैं।

(विचार की नंई करवट लेते हुए, अपने सोचने में तन्मय हो कर) : पर ऋषि के प्रश्न से हट कर एक बात और कहता हूं जो मुझे विज्ञान की बात करते हुए सूझी है। 'ऋषि से हट कर' इसलिये कह रहा हूं क्योंकि मुझे लगता है कि ऋषि यह मान कर चल रहे हैं कि सचमुच कुछ है जो सृष्ट हुआ। पर यह क्यों नहीं माना जा सकता कि यह सारा ही इन्द्रजाल है? विज्ञान अणु-ऊर्जा को सत्य मानता है, पर बाकी सब कुछ को इन्द्रजाल। पर सारा जगत् ही इन्द्रजाल क्यों नहीं? मैंने अभी कहा था कि 'क्या है' का प्रश्न, अपने मूल में '*जगत्* का स्वरूप क्या है?' यह प्रश्न बनता है। क्योंकि यह वस्तु या वह वस्तु हो या नहीं हो तो भी जगत् हो ही सकता है। जैसा है उससे बिल्कुल अलग हो सकता है। और जगत् में जो होगा वह सचमुच होगा। लेकिन फिर भी यह तो हो ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकता है कि जगत् जैसा हमें *दिखता* है वैसा नहीं हो, उसकी जगह वास्तव में बिल्कुल कुछ और ही हो!। इस या उस वस्तु का स्थान और स्वरूप भी उससे बहुत भिन्न है जो कि हमें *लगता* है – जो कुछ भी है, हमें जैसा *है* वैसा नहीं दिखता। विज्ञान यही कहता है। पर ऐसी ही बात कहने की दूसरी भी दृष्टियां हो सकती हैं। हमें लगता है कि हिमालय एक पहाड़ है, पर पुराने लोग उसके वास्तव 'होने' को देवता के रूप में देखते थे – याद है, पृथु. ने कालिदास की लाइन कही थी जिसमें हिमालय को देवतात्मा कहा गया है। लोग अब भी पेड़ों को पूजते ही हैं, उन्हें देवता समझते हैं – सचमुच समझते हैं। इसे निरा अंधविश्वास कह कर टाल देने से बात नहीं बनती – यह एक तरह का *देखना* ही है। कबीर जैसे संतों के बारे में सुना है कि वे समूचे जगत् को चेतन देखते हैं – चिन्मय, आनन्दमय – विज्ञान से एकदम उलटा है यह देखना। इसे झट से मन का भ्रम कह देने का कोई अर्थ नहीं। यह भी देखना ही है – हमारे रोज़मर्रा के देखने से कहीं ऊँचा और गहरा ही होगा। पर इस बात को छोड़ भी दो तो भी सोचो कि जगत् जैसा हमें दिखता है वैसा क्यों दिखता है? साफ़ ही इसलिये कि हमारे बोध की वृत्तियां ऐसा ही देखती हैं – इन्द्रियां, मन, बुद्धि, जिनसे हम जगत् को देखते-जानते हैं उनका अपना स्वरूप है, ये जगत् को अपनी तरह से हमारे सामने रखती हैं। और साथ हमारी चेतना हममें यह बोध जगाती है कि ये वस्तुएं और उनका धारण करता यह जगत् अपने आप में है; इसका होना हमारे देखने से स्वतन्त्र है। इसका होना वैसा ही है जैसा हमें लगता है। 'जैसा *हमें* लगता है' इसलिये कह रहा हूं कि जगत् का बोध मुझे ही नहीं, हम सबको होता है। यहां तक कि इसी 'सबको होते' बोध के आधार पर हम होने में और होने की भ्रांति में भेद करते हैं – कहते हैं, 'अँधेरे में यह आदमी-जैसा दिख रहा था, पर ठूंठ है', या ऐसा ही कुछ और – जैसे रस्सी में साँप देख लेते हैं। और भी भ्रम हो सकते हैं, जैसे आकाश का नीला दिखना या पानी में पैंसिल का टेढ़ा दिखना। इन्हें बुद्धि के भ्रम कह सकते हो। एक और तरह की वस्तु होती है – जैसे फ़िल्म – जिसकी हम बात कर भी चुके हैं, और जिसे 'है'-'नहीं है' इन दोनों कोटियों में रख सकते हैं – यह हमारा ही खड़ा किया गया जगत् का एक प्रतिरूप – एक छाया – होता है। पर मैं समझता हूं, वहां हम जगत् को नहीं अपने आप को देखते हैं, अपने अनुभव को, अपने भोग को, अपने भुगतने को जगत् की छाया के भीतर से आँकते-पकड़ते हैं। पर भ्रम को अलग रखो। जैसे भ्रम की बात कर रहा हूं वह जगत् को सत्य मान कर चलता है। पर इससे भी गहरा भ्रम हो सकता है। जगत् ही भ्रम हो सकता है। इसकी चर्चा करता हूं। पर एक सवाल पहले ही उठता है। सवाल यह उठ सकता है कि मन, इन्द्रिय, बुद्धि इन्हें जगत् के *बाहर* कैसे रखा जा सकता है? बात ठीक है। ये भी जगत् में ही हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मैं इसी पर सोच रहा था और समझता हूं कि बात को यों समझना चाहिये : हममें एक द्रष्टा-दृश्य-भाव है – या ग्राह्य-ग्राहक-भाव है ऐसा कह लो – जो हम सब में है, या कहो कि मनुष्य में, मनुष्य जाति में है, और जो जगत् का अपनी तरह से ग्रहण करता है – सच पूछो तो *जगत् को बनाता* है, और साथ ही, उसे 'बाहर अपने आप में कुछ है' के रूप में आँकता समझता है। जगत् का होना इस ग्राह्य-ग्राहक-भाव का ही होना है। (थोड़ा रुक कर) पर यह भी देखो कि हम मनुष्य हैं तो हमारा एक तरह का ग्राह्य-ग्राहक-भाव है जिसमें भाषा का बड़ा स्थान है। तभी हम जगत् को नाम-रूप कह सकते हैं। पर दूसरे जीवों में भी तो ग्राह्य-ग्राहक भाव है! उनका जगत् भी हमसे अलग होगा – अलग अलग जीवों की इन्द्रियां भिन्न होती ही हैं। यह बात और है कि दूसरे जीव जगत् के होने-न होने के प्रश्न में रुचि रखते बिलकुल नहीं लगते – वैसे मनुष्यों में भी कितने रखते हैं? लोग तो बस *होते* है। पर जो भी हो, यह सोचो कि हमारी इन्द्रियां भिन्न हों तो क्या हमारे लिये भी जगत् भिन्न नहीं होगा? पर अभी जो मैं कह रहा हूं, इसे असल बात की भूमिका समझो, क्योंकि इसके बिना असल बात नहीं कही जा सकती। असल बात एक और गहरा सवाल है – कि क्या यह ग्राह्य-ग्राहक-भाव, जो जगत् को खड़ा करता है, वही मिथ्या नहीं हो सकता? माया नहीं हो सकता? यही हमारे लिये जगत् को बुनता है। अपने आप में जगत् कुछ भी नहीं। पर यही ग्राह्य-ग्राहक-भाव हमें जगत् में डालता भी है। हम इस भाव से बाहर निकलने की कल्पना ही नहीं, साधना भी कर सकते हैं – वही मोक्ष है – या निर्वाण कहो, जगत् के बंध से छुटकारा। हम ग्राह्य-ग्राहक-भाव से मुक्त हो सकते हैं, तभी कई लोगों को लगता रहा है कि यह भाव एक असत् जंजाल है, मोह है, झूठी कल्पना है जो जगत् को खड़ा करती है – और हमें इसमें उलझाती है, इसके मोह में डालती है। पर हम इस जगत्-मोह से छूट सकते हैं क्योंकि हमारा सच्चा होना इसके परे है – और हम इससे छूट जायें तो जगत् भी नहीं रहेगा, जैसे जागने पर सपना।

(भीतर ही भीतर मनन करते हुए) : हमारा सत्-असत् बोध यह भी ग्राह्य-ग्राहक-भाव की ही सृष्टि है। ग्राह्य-ग्राहक-भाव न हो तो जो होगा वह सत्-असत् के परे ही होगा – कहने-सुनने से बाहर, अवर्णनीय। पर फिर भी प्रश्न उठ सकता है कि यह ग्राह्य-ग्राहक-भाव आया कहां से? इसे भी 'नहीं है' कहने का तो कोई अर्थ नहीं बनता। इसकी सृष्टि भी एक पहेली ही रह जाती है। इसके होने का कोई कारण, कोई प्रयोजन या हेतु समझ में नहीं आता – मनुष्य को बेकार ही कैद में डाल देना, इसका क्या मतलब? बात फिर टेढ़े ही नहीं, तीखे-कचोटते रहस्य-जाल में फँस जाती है। उत्तर यही हो सकता है कि इसकी सृष्टि हुई ही नहीं। यह अनादि है। या यह कहो कि यह इन्द्रजाल है, माया है, क्योंकि यह वास्तव में है ही नहीं, केवल प्रतीत होता है। इसे न

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सत् कह सकते हैं न असत्। ऋषि के शब्दों में इसे 'तुच्छ' कह सकते हैं। पर कुछ भी कहो, हैरानी बनी रहती है – यह कुछ तो है, नहीं तो प्रतीत भी कैसे होता है? चाहे मुक्ति के साथ जागने पर सपने की तरह मिट जाता हो, शून्य हो जाता हो, पर इसे शून्य का पुतला या आकाश-कुसुम तो नहीं कह सकते। यह बड़ी गहरी प्रतीति के साथ हमारे बोध में जागता है, उस पर छाया रहता है। मुझे कोई उत्तर नहीं सूझ रहा! पर इससे निकलने की प्रेरणा भी इसमें है। उस प्रेरणा को तो तुच्छ कहना ठीक नहीं लगता। (चुप हो जाता है)

पृथु : तुम्हारी बात सुनते हुए एक बात बार बार मन में कौंधे जा रही है। हम बार बार कहते रहे हैं कि हममें जो द्रष्टा है वह दृश्य के ऊपर उठ सकता है। अपने भी ऊपर उठ जा सकता है, क्योंकि स्वयं भी दृश्य हो सकता है। और द्रष्टा के ऊपर उठने की सीढ़ियों का अंत नहीं। पर यह भी देखो कि यह द्रष्टा अपने देखने को देखते हुए उसे दृश्य रूप में देखता है। तभी हम ग्राह्य-ग्राहक-भाव की, उसके *होने* की बात कर सकते हैं। तभी हम जगत् *में* होने की और जगत् *के* होने की और साथ ही जगत् से बाहर होने की बात कर सकते हैं। तभी हममें इससे बाहर निकलने की प्रेरणा जागती है और हम इसे मोह या असत् या माया कह कर 'तुच्छ' बता सकते हैं। अब अगर हममें दृश्य से बिलकुल मुक्त हो जाने की – या मोक्ष की – प्रेरणा है तो यह ऊपर-उठता द्रंष्टा ही हमें मुमुक्षु बनाता है – वह ग्राह्य-ग्राहक-भाव में रहता हुआ भी इस भाव को अपने से अलग देख सकता है – यह देख सकता है कि उसका अपना मुक्त स्वरूप उसमें बिना कारण उलझ गया है। यह बोध ही जगत् से छूट निकलने की ललक जगाता है। बाइबल और पुराणों में ऐसा ही मुक्ति-कामी द्रष्टा-भाव काम कर रहा है – हालाँकि वे इसकी व्याख्या नहीं करते। पर बात केवल मोक्ष की नहीं है। विचार भी तो इसी विचित्र द्रष्टा-भाव की धरती पर खड़ा है। यह भी तो सोचो कि हममें जो यह ग्राह्य-ग्राहक-भाव से ऊपर उठा हुआ द्रष्टा-भाव है, जो फिर दृश्य की ओर आँख करता है, अपने को भी दृश्य बनाता चलता है, इसीके कारण हममें प्रश्न है, जगत् के स्वरूप की जिज्ञासा है, विचार है, फिर उस पर विचार है, उस विचार पर फिर प्रश्न है, उसकी परीक्षा है –– जो मोक्ष-संधान के अध्यात्म को ही नहीं, विज्ञान को, दर्शन को भी जन्म देती है। आकाश ने इस बोध की बात की कि जगत् हमसे अलग अपने आप में कुछ है – यह बोध इन्द्रियों में सबसे घनीभूत होता है। विज्ञान इस इन्द्रिय-बोध के तत्त्व की खोज करता है – इन्द्रियों के ग्रहण में जिस जगत् का संकेत पाता है उस जगत् को जानना चाहता है। पर इस संकेत को समझना एक विचार-दृष्टि की साधना चाहता है जो इन्द्रिय से उठ कर फिर इन्द्रिय-जगत् को अलग रख के देख सके।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व्यवहार के जिस सबके-ग्रहण-में-जागते लोक में हम रहते हैं, जहां हम यह कुर्सी देखते हैं, मेज़ देखते हैं, समोसा चखते हैं, जहां हम हैं, हमारी बातचीत है, जिन्हें हम सहज ही जगत् के रूप में ही देखते हैं – विज्ञान के लिये यह हमारे अशुद्ध ग्राह्य-ग्राहक-भाव का ग्रहण है। वास्तव जगत् का ग्रहण इनसे बहुत दूर ले जाता है – अणु और ऊर्जा के जगत् में। साधारण तौर पर हम जो देखते हैं उसे अपने आप में वस्तु समझते हैं – हमसे अलग, स्वायत्त, जगत् में स्थित। उनका जगत् में अपने आप में होना ही हमारे लिये उनका होना है। तभी हम यह मानते हैं कि वह सबको दिखती है। इसमें भी इन्द्रियां केवल इंगित का ही काम करती हैं – हालांकि यह ग्रहण विज्ञान से बहुत भिन्न है। क्योंकि, देखो, यह समोसा मुझे कितना दिख रहा है? इसका एक पक्ष ही दिख रहा है। पर मैं जानता हूं कि यह वहां मेज़ पर रखा है, तभी मानता हूं कि तुम्हें नहीं दिखे तो मैं भ्रम में हो सकता हूं। पर तुम सबको समोसा वैसा नहीं दिखता जैसा मुझे दिख रहा है – सबका दृष्टिकोण अलग है। पर मैं यह भी जानता हूं कि मैं तुम्हारी जगह हूं तो मुझे भी वैसा ही दिखेगा जैसा तुम्हें दिख रहा है। क्योंकि वह अपने आप में है – एक अवयवी है जिसे अनंत दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है, जो देश को घेरे है। विज्ञान इसी बोध से चलता है, पर उसका संधान उसे अणुओं और ऊर्जाओं में ले जाता है और उन्हीं को वह जगत् मानने लगता है। इस अणु-जगत् को वह व्यवहार के जगत् का कारण मानता है, पर उसके लिये हमारा आठ पहर का जगत् इनद्रजाल ही ठहरता है। पर इन्द्रजाल किसके लिये, जब कि चेतना को ही विज्ञान नहीं मानना चाहता! व्यवहार को और व्यवहार में प्रत्यक्ष होती वस्तुओं को, मनुष्य और उसकी चेतना समेत सभी कुछ को - वह अणु-ऊर्जा का ढेर ही मानता है। वहां पहुँच कर दृष्टि को बोध होता है कि बाकी धोखा है, चाहे सबको होता हो – चाहे उसीमें हम जीते हों – उसीमें जीने को बाध्य हों। पर द्रष्टा-भाव की एक सीढ़ी और ऊपर चढ़ो तो क्या विज्ञान का अणु-ऊर्जा-लोक भी धोखा नहीं लगने लगेगा? वैसे भी वह अणु-ऊर्जा का मरु ही है! फिर एक बात जो विज्ञान से निकलती है उसे देखो – उसे अध्यात्म के मोक्ष-मार्ग से मिला कर देखो। आकाश ने ठीक ही कहा कि मोक्ष-मार्ग के लिये हमारा ग्राह्य-ग्राहक-भाव ही मिथ्या है। पर विज्ञान के लिये भी हमारा ग्राह्य-ग्राहक-भाव जैसा है, वैसा भ्रांत नहीं है क्या? हम जगत् को जैसा देखते हैं, विज्ञान उस जगत् को मिथ्या दिखाता है। विज्ञान की दृष्टि हमारे सहज द्रष्टा-भाव से अपने को मुक्त करके ही जगत् के वास्तव रूप का संधान करती है। पर हां, विज्ञान किसी द्रष्टा को भी नहीं मानना चाहता। वह इससे भी जगत् के विशुद्ध स्वरूप को मुक्त रखना चाहता है। द्रष्टा चेतन ही हो सकता है, पर विज्ञान के लिये दृश्य ही सब कुछ है, अणु-ऊर्जा है, दृश्य और द्रष्टा उसीमें अंतर्भुक्त हैं, अलग कुछ नहीं, अलग से तो इन्द्रजाल ही है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सोचो तो कैसी अजीब बात है कि विज्ञान, जो द्रष्टा के बिना बन नहीं सकता, वह द्रष्टा को नकारता है, दृश्य को ही सब कुछ समझता है, द्रष्टा को भी उसीमें समेट लेना चाहता है। मोक्ष-मार्गी की तरह व्यवहार के जिस जगत् में हम जीते-रहते हैं, भोगते-भुगतते हैं, इसे वह भी 'तुच्छ' ही ठहरा देता है। पर द्रष्टा से विपरीत दृश्य की ओर बढ़ते हुए। लेकिन सोचो, द्रष्टा से इनकार करना क्या संभव है? द्रष्टा ही ऐसा इनकार कर सकता है – क्योंकि वह अपने से ऊपर उठ सकता है, अपने को ग्राह्य के रूप में देख सकता है, यों दृश्य को ही नहीं, अपने ही दृश्य-रूप को भी केवल प्रतीति समझ सकता है – दिखता है, पर है नहीं, धोखा है। हममें दृश्य से ऊपर उठता द्रष्टा है। इसीलिये हम द्रष्टा के विशुद्ध रूप को संपूर्ण दृश्य-भाव से अलग आँक सकते हैं। इस रास्ते दृश्य के होने से इनकार किया जा सकता है। तभी हमारे यहां पूरी सृष्टि को माया कहा गया है – हम और हमारा संसार-बंध, सब माया है – अणु-परमाणु की तो बात ही क्या, जो कुछ लगता है कि 'है' – चाहे लाख 'प्रमाणित' ही सही – सब माया है, मिथ्या है। केवल विशुद्ध द्रष्टा – या विशुद्ध चेतना कहो – वही है। पर उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि कुछ कहना ग्राह्य-ग्राहक-भाव का काम है। सिद्धर्षि कहेगा, ठीक है, पर ऐसे परम प्रश्न या चरम दृष्टि के बिना भी व्यवहार तो चल ही सकता है। हां, यह हो सकता है – पर हमारा व्यवहार भी सवाल के बिना नहीं चलता। हम यह बात कर चुके हैं कि व्यवहार के हृदय में ही प्रश्न बैठा है कि व्यवहार क्या होना चाहिये? टेढ़ा सवाल है और व्यवहार के स्वरूप का सवाल है – व्यवहार इस सवाल से सूना कभी नहीं होता। और व्यवहार क्या होना चाहिये, यह सवाल जगत् क्या है? – इस सवाल से भी अछूता नहीं है, क्योंकि हम, जो व्यवहार करते हैं, जगत् के ही अंग हैं। पर सत्य अगर यह हो कि ग्राह्य-ग्राहक-भाव ही माया है, मिथ्या है, असत् है तो व्यवहार का होना और होना चाहिये दोनों ही निरस्त नहीं हो जाते क्या? संन्यास कर्त्तव्य हो जाता है – जो व्यवहार को, हमारी सारी प्रवृत्तियों को नकार देना चाहता है – जगत् को ही नकार देना चाहता है। जगत् अगर असत् है तो व्यवहार – जो जगत् को सत् मान कर ही बनता है – वह जगत् से अलग सत् कैसे हो सकता है – सार्थक कैसे हो सकता है? उसमें उचित-अनुचित की बात उठे भी तो तुच्छ, बेमानी ही ठहर सकती है। इतना तो सिद्धर्षि भी मानने को मजबूर है। पर जो भी कहो, यह मानना होगा कि आदमी जीव ही विचित्र है – क्या वह जगत् का वैसा ही अंग है जैसे अणु-परमाणु और ऊर्जा? है तो विज्ञान का कोई अर्थ नहीं, क्योंकि मनुष्य ही विज्ञान की साधना करता है – जगत् जैसा दिखता है उससे हट कर जगत् के सच्चे अणु-ऊर्जा स्वरूप को उभारता है। फिर वहां जिस जगत् में अपने को पाता है वहां अपनी ज्ञान-चेतना को ही नहीं, अपने आप को ही अर्थहीन और असत्, 'नहीं-होने' जैसा पाता है। पर जगत् अगर माया है तो भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आदमी के लिये ही माया है – वही इसके असत् होने का ज्ञान कर सकता है, इससे मुक्त हो सकता है और मुक्ति में सत् को पा सकता है।

पर अब एक बात और सोचो। मनुष्य मुक्त हो कर जिस स्थिति को पायेगा उसे सृष्टि तो नहीं सकते – वह सृष्टि से पहले की स्थिति है, तभी न सत्, न असत् ठहरती है। पर वह स्थिति 'हो' या 'नहीं हो', वही तो हमारा स्वरूप, हमारा सत् ठहरती है! हम सृष्टि या जगत् को मान कर जिसे भी सत् या असत् कहते हैं, हमारी वह परम स्थिति इन दोनों कोटियों में नहीं समा सकती – क्योंकि वह ग्राह्य-ग्राहक-भाव और उसके बनाये जगत् से बाहर है। ग्राह्य-ग्राहक-भाव को सृष्ट कहें या असृष्ट, पर उस स्थिति को तो असृष्ट ही कहना ठीक लगता है। ऋषि का प्रश्न उसी जगत्-बाहर स्थिति को ही ध्यान में रख कर है। आदमी का ध्यान बरबस उधर जाता है। क्योंकि आदमी जगत् में रह कर भी जगत् से अलग है। और इस बात को आदमी सहज ही, अपने स्वरूप-स्वभाव से ही मानने की ओर झुका रहता है। तभी तो बाइबल, पुराण सब मनुष्य को दूसरे जीव-जंतुओं से अलग दर्जा देते हैं। सबसे अलग, सबके ऊपर रखते हैं। यह भी देखो कि आदमी इन कहानियों में जगत् को अपनी यातना का द्वार मानता है – तात्पर्य यह कि इसके होने को नहीं-होने की श्रेणी से भी निचला ही रखना चाहता है।

(फिर अचानक, जैसे कोई बात निकल ही पड़ी हो) : पर फिर यह भी सोचो कि उसका जो जगत्-बाहर तत्त्व है उसका जगत् से संबंध क्या? – चाहे जगत् माया या झूठ ही सही! जगत् और जगत् से बाहर जो विशुद्ध चेतना है उनका संबंध न हो तो जगत् प्रतीत भी कैसे हो सकता है? उसकी बात ही कैसे की जा सकती ? और फिर हम तो जगत् की बात ही नहीं करते, जगत् में होते हैं! इसको देखते हैं, इसे भुगतते हैं। हमारा तत्त्व जगत्-बाहर ही सही, पर वह जगत्-भाव से बँधा है। सृष्टि की पुरानी कहानियां इसी स्थिति को संदर्भ बनाती हैं और इसका जवाब देना चाहती हैं। पर मुझे अचंभा यह है कि वैज्ञानिक भी दृष्ट जगत् को समझने के लिये जगत्-बाहर किसी अदृष्ट में उसके आरम्भ को रखने के लिये अपने को मजबूर सा पाता है। पर वह सचमुच बाहर निकलने से घबराता भी लगता है – अपने दृष्ट पर जड़ जगत् को ही घसीट कर जगत् के बाहर रख देना चाहता है। पर द्रष्टा-भाव की ओर ध्यान दो। उसके लिये दृश्य आता ही कहां से है? जिस द्रष्टा की हम बात कर रहे हैं वह द्रष्टा तो अपने चरम स्वरूप में सब कुछ से अलग, तटस्थ ही हो सकता है। लगता है उसे 'द्रष्टा' कहना भी ठीक नहीं क्योंकि दृश्य के बिना द्रष्टा क्या? चलो, उसे द्रष्टा नहीं कह कर शुद्ध चेतना कह लो जो और किसी भी कुछ से अछूती है। यह भी माना कि वह हमारा स्वरूप है और हम उसे पा सकते हैं। पर हम तो उसे इस अशुद्ध, मिथ्या जगत् के भीतर से ही पाते हैं –

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वह चेतना जगत् में उलझी ही कैसे? यह बात भी विचार चाहती है। कुछ विचार उठ रहे हैं, पर अधूरे से हैं। और भी कुछ कहूंगा, पर अभी शिखा कुछ कहना चाहती है।

(फिर उससे पहले ही बोल उठता है) : एक बात और कहूंगा। विज्ञान जो सृष्टि की कहानी कहता है, बड़ी दरिद्र है। उसमें मनुष्य का कहीं स्थान नहीं। उससे तो बाइबल और पुराण अच्छे हैं। हम सृष्टि की बात करें तो जो सृष्ट हुआ है उसके आयाम तो ध्यान में रहने चाहियें। अणु और ऊर्जा और इनका जाल–जंजाल ही सब कुछ है तो सृष्टि होना और नहीं होना दोनों एक जैसे ही हैं – क्योंकि सृष्टि का कोई अर्थ ही नहीं। अनुभूति से पूछो तो यही कहेगी। पर जिस सृष्टि में हम रहते हैं, माना उसमें अणु–ऊर्जा भी सही, पर उसमें जिज्ञासा भी है, दुख–सुख भी हैं, गहरी यातना भी है, आदर्श भी हैं, मुक्ति की साधना भी है। 'है' के साथ 'होना चाहिये' जुड़ा हुआ है।

(चुप हो जाना चाहता है, पर फिर से बोले बिना नहीं रहा जाता। कहने के लहज़े में एक नया उद्दीप्त स्वर है) : हम सृष्टि की बात कर रहे हैं तो अपने सृजन के अनुभव पर भी ध्यान देना चाहिये। सृजन में एक स्वातन्त्र्य होता है, एक उन्मेष होता है – चली आ रही लकीर से, रूढ़ि से, उठ कर अर्थ का विस्फोट होता है। जैसे नई कविता लिखी जाती है, नये राग में नये आलाप की बढ़त होती है, चित्रपट पर नये रंग–रूप फूट निकलते हैं – एक नया क्षितिज, नया आकाश खोल देते हैं। चेतना विस्मय में डूब जाती है, पर अपना सत्य भी वहीं पाती है। हमारे 'हम' से परे होती है वह चेतना, विचार से भी परे होती है, मानो अपने स्वरूप में स्थित होती है, पर हमारे भीतर से, हमारे माध्यम से रूप लेती है, अर्थ का संधान करती है – कला में ही नहीं, हमारी हर गहरी खोज में। विचार में भी। मुझे तो यही लगता है। पर अचंभे की बात यह भी है कि हम भी वहीं अपने को स्वतन्त्र पाते हैं। अब तक हमने बहुत कुछ कहा, जगत् के बारे में और मनुष्य के बारे में, और हम बात सृष्टि की कर रहे हैं जिसमें जगत्, मनुष्य, सब आ जाते हैं, पर सृजन के मर्म को हम अपने अनुभव में जैसा जानते हैं, बात उधर निकली ही नहीं। पर मैं समझता हूं, अपने सृजन के आधार पर सृष्टि को समझने की चेष्टा करनी चाहिये – हमारे सृजन में सृष्टि की छाया है। हमे उधर देखना चाहिये। और बात के तत्त्व पर या मूल पर जाओ तो यह देखो कि हमारा होना – मनुष्य का होना – क्या एक विस्फोट जैसा नहीं है? जगत् की चली–आती निरर्थक सी लकीर से हट कर एक नया उन्मेष। चेतना का एक नया खुलता आकाश। 'आकाश' जानबूझ कर कह रहा हूं क्योंकि हममें केवल ग्राह्य–ग्राहक–भाव ही नहीं है – वह तो जीव–मात्र में होता है – हममें चेतना इस भाव से ऊपर उठ कर अपने ही को जानने–देखने की अनंत सीढ़ियां भी खोल देती है – अपने आरोह का अनंत आकाश। तभी मनुष्य स्वतन्त्र कहला सकता है। अपने आप को बना सकता है। मनुष्य में इस विस्फोट को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आत्मचेतना कहा जाता है, जो ठीक है। पर यह विस्फोट या उन्मेष मनुष्य को अपना बनाया हुआ नहीं है। हम ही अपने बनाये हुए नहीं हैं। हममें कोई और तत्त्व है, एक परम तत्त्व, जो रूप लेता है – यह तत्त्व चेतना ही हो सकती है। बाइबल की कहानी में जो यह कहा गया है कि ईश्वर ने मनुष्य को अपने रूप के अनुसार रूप दिया, उसका यही अर्थ हो सकता है। (थोड़ा अपने भीतर डूब कर, अचानक) : पर यह भी सोचो कि बाइबल मनुष्य में पाप के अचानक जागने की बात करती है – पर उसे ईश्वर से हटा कर एकदम से शैतान पर डाल देती है। बात बिल्कुल बनती नहीं। पर पाप तो पुण्य के बिना नहीं हो सकता। मनुष्य में पाप-बोध है तो पुण्य का भी बोध है। सार की बात यह है कि मनुष्य में 'क्या होना चाहिये' का बोध है। उचित-अनुचित का बोध है। सोच कर देखो कैसा विचित्र, कैसा अद्भुत है यह बोध! आत्मचेतना के विस्फोट के साथ ही जागता है। पर कोई परम, बृहत् चेतना है जो हममें आत्मचेतन होती है – हमारा सृजन-बोध यही संकेत करता है। पाप-पुण्य का बोध हममें ईश्वर का ही प्रतिरूप हो सकता है। पर इस बोध को महत्त्व देना ठीक है, जैसा कि बाइबल करती है। 'होना चाहिये' का बोध ही हमें दूसरे जीवों से अलग करता है। पर सोचो, 'होना चाहिये' का होना कैसा होता है? जिसे हम आम 'होना' कहते हैं, वैसा तो बिल्कुल नहीं होता। आकाश ने जिसे 'अदृष्ट' कहा उसीमें रहता है। पर उसमें भी 'रहता है' कहने का कोई अर्थ नहीं – अदृष्ट ही 'कहीं' नहीं रहता। हम आम 'दृष्ट' होने को ही होने का आधार बनाते हैं, पर यह आधार यहां निकम्मा है। 'होना चाहिये' कहीं 'होता' नहीं है। या यों कहो कि वह सिद्ध नहीं साध्य है। आदर्श साध्य होते हैं। पर उन्हें 'नहीं होते' भी नहीं कह सकते। बल्कि उलटे यहां तक कह सकते हैं कि जो है वह उसका माध्यम है – उसकी अभिव्यक्ति का बहाना, जैसे कलाकृतियां उस हमसे-ऊपर-रहती चेतना का माध्यम होती हैं जिसे हम प्रतिभा कहते हैं। पर 'होना चाहिये' सदा साध्य रहता है, सिद्ध नहीं हो जाता। इसलिये उसे देश-काल में भी नहीं रख सकते – तभी मैंने कहा कि उसे कहीं नहीं रख सकते, वह सिद्ध है ही नहीं। सृष्टि की प्रक्रिया ऐसे साध्य की ही प्रक्रिया है – निरंतर चलती है; देश-काल में नहीं, पर देश-काल में रूप लेती है। हां, हमारी इन्द्रिय, मन, बुद्धि या यों कहो कि हमारा साधारण ग्राह्य-ग्राहक-भाव 'है' के बोध में ही बसा होता है – 'होना चाहिये' को भी 'है' के रूप में देखना-समझना चाहता है। पर जो स्वतन्त्र है, साध्य है, उसे यों नहीं कूता जा सकता। पर साध्य अर्थ होता है, यह बोध भी हममें प्रतिभा की तरह है – नहीं तो सृष्टि शैतान की होती, ईश्वर की नहीं। 'होना चाहिये' अर्थ-बोध में ही बसा होता है। पर साध्य क्या? यह पहेली है। स्वरूप से ही पहेली है। देखो, हममें आत्मचेतना का होना कैसी अगम पहेली है! सृष्टि भी इसीलिये पहेली है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शिखा : (कोई और कुछ कहे इससे पहले ही आकाश को संबोधित करते हुए बोल उठती है – जैसे कोई नई पते की बात सूझ गई हो) : पृथु, तुम फिर अपने अगम आकाश में उड़ने लगे हो। पर तुमने जो यह कहा कि सृष्टि को देश-काल की धारणा से अछूता रख कर ही समझा सकता है, वह ठीक कहा। तो सुनो, मैं एक पकड़ की बात कहना चाहती हूं। जगत् के आरम्भ की या आदि की बात करना या उसे अनादि कहना, दोनों ही ठीक नहीं, क्योंकि दोनों ही काल को मान कर चलते हैं – काल का ही आदि या अनादि होता है। या यों कहो कि जब जगत् के साथ ही काल हुआ तो जगत् को आदि और अनादि दोनों ही कह सकते हो। पृथु ने सृष्टि को साध्य कह दिया, पर वह साध्य ही है तो फिर जो है वह हुआ ही क्या? उसका होना नहीं होने के जैसा ही तो हो गया! फिर तो कुछ होने की बात ही बेकार है। पर जो है उसकी सृष्टि की बात सोचो। हम कहते तो रहे हैं कि जो सृष्टि से पहले था वह काल के बाहर था, पर काल की धारणा से हम अपने विचार में सचमुच हट नहीं पाये हैं। अगर काल का होना जगत् के साथ ही होता है तो जगत् के आदि की बात नहीं की जा सकती, न उसे अनादि कहने का कोई अर्थ बनता है, क्योंकि ये काल की कोटियां हैं और इसलिये जगत् के भीतर ठहरती हैं, उससे बाहर नहीं। तो यह प्रश्न बेमानी है कि काल की सृष्टि कब हुई? या काल कब हुआ। यह वैसा ही बेढंगा सवाल है जैसे यह पूछना कि देश कहां हुआ – देश के बिना 'कहां' का अर्थ ही क्या? जगत् को समझने के लिये जगत् के स्वरूप को समझना होगा – उस प्रक्रिया में उतरना होगा जो जगत् को बुन कर खड़ा करती है। और मैं समझती हूं कि जगत् विचार-चेतना की बुनावट है, देश और काल उसके ताने-बाने हैं। (सबकी ओर देख कर) चौंको मत। मैं बताती हूं कैसे।

बहुत देर से ग्राह्य-ग्राहक-भाव की और उससे-ऊपर-उठे द्रष्टा की बात हो रही है, पर इन बातों से लग रहा था कि द्रष्टा-भाव किसी दृश्य से अलग भी रह सकता है, कि दृश्य मिथ्या है या भ्रम है, उसका पूरा लोप भी हो सकता है। पर केवल दृश्यहीन द्रष्टा की बात बेमानी है, दृश्य के बिना द्रष्टा क्या? द्रष्टा कुछ देखेगा तभी तो द्रष्टा होगा! जवाब में यह कहा गया कि केवल चेतना की बात हो सकती है जो किसी के प्रति चेतती न हो। पर ऐसी चेतना क्या होगी? उसमें और अचेतन, जड़ में अंतर क्या होगा? उसका होना भी 'तुच्छ' ही कहला सकता है – ऐसी अंधी, अनदेखती दशा में निरे होने की बात कोई अर्थ नहीं रखती। पर इतना तो सोचो : द्रष्टा अपने बाहर किसी दृश्य के बिना ही सही, फिर भी अपने प्रति तो चेतन होगा ही। अर्थात् वह अपना ही दृश्य तो होगा ही। नहीं तो अंधा होगा।

(कुछ सोच कर, और अपने ही विचार की गति से कुछ चौंक कर) : पर, हां, एक विचित्र बात होगी। दृश्य के रूप में द्रष्टा अपने से भिन्न, अपना पराया भी होगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

क्योंकि दृश्य होगा तो अपने से अलग, *अपना देखा* दृश्य होगा। अपने को *जानेगा* – पर अपने को दृश्य के रूप में ही जानेगा। उसके लिये प्रश्न होगा, वह क्या है? अपने आप में क्या होगा इसकी कल्पना ही की जा सकेगी – विचार में ही उसे पकड़ा जा सकेगा। (कुछ मनन करते हुए) : बात को यों देखो। चलो, एक बार हम यह मान भी लें कि बिना दृश्य के केवल द्रष्टा हो सकता है – उसे नाम कुछ भी दो, 'परम तत्त्व', 'परम चेतना', इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता – पर यह देखो कि उसके अपने होने के गुण-धर्म उसे दृश्य के रूप में ही दिख सकते हैं। उसका द्रष्टा-भाव – चाहे वह अपने को ही देख रहा हो – उसके देखने – या ग्रहण – में ही होता है। उसके देखने के आधार पर ही उसके द्रष्टा-रूप को जाना जा सकता है। वह अपने आप में कैसा होगा, यह प्रश्न ही भ्रांति है – क्योंकि वह द्रष्टा है, उसका देखना ही उसका स्वरूप है। और द्रष्टा दृश्य के ही गुण-धर्म बता सकता है। यह भी सोचो कि उसका देखना या ग्रहण कैसा है यह जानने के लिये एक और 'देखने' की आवश्यकता होगी। यों द्रष्टा अपने को ही नहीं, अपने देखने को देखता द्रष्टा ही हो सकता है। द्रष्टा-भाव की जिन सीढ़ियों की बात की गई, वे इसी तरह बन खड़ी होती हैं – क्योंकि उनके बिना देखने-जानने की बात बनती नहीं दिखती। अभी पृथु ने आत्मचेतना की बात की। आत्मचेतना द्रष्टा-भाव का आत्मबोध ही है और उस बोध का – देखने को देखने की सीढ़ियों का – आरोह। किसी 'केवल' द्रष्टा की बात वृथा है। तभी हमारी पिछली बातों में देखने की ही नहीं, देखने को देखने की और उसे भी देखने की बात बार बार हुई है। और तभी देखने को देखने की सीढ़ी कहीं रुकती नहीं दिखती। पर यह देखना कैसा है? इसका माध्यम क्या है? साफ़ ही इसका माध्यम विचार है। या यों कहो कि विचार में ही यह रूप लेता है। तभी विचार की प्रक्रिया में आत्मदृष्टि की बात खुली और साफ़ सामने आती है – उस दृष्टि का आरोह भी दिखाई देता है। जिसे हमने अभी बोध में ग्राह्य-ग्राहक-भाव की निरंतर ऊपर उठती सीढ़ी के रूप में देखा वह विचार में ही अपने ऊपर साक्षात् प्रकट रहता है। कुछ ऐसी सी बात मैंने आरंभ में भी कही थी, पर उसका तत्त्व अब थोड़ा और साफ़ खुल रहा है मेरे आगे – आज जो बात छिड़ी है उसके भीतर से।

अब यों देखो। द्रष्टा-दृश्य-भाव को विषयी-विषय-भाव भी कह सकते हो। यह विचार में सदा जागता रहता है। विचार अपने को अपना विषय बन कर ही पकड़ता-जानता है, और विचार के भीतर ही विचार पर विचार की सीढ़ियां प्रकट होती *दिखती* चलती हैं। अपने को ही विषय बनाता हुआ विचार कितनी ही सीढ़ियां चढ़ता चला जा सकता है – अपने को जाँचता हुआ, माँजता हुआ, बदलता हुआ; या प्रश्न, संशय या नई दृष्टि की प्रेरणा से नई दिशा ही ले लेता हुआ। यह सब विचार सत्य की खोज में ही करता है – अपना ही सत्य खोजता है – क्योंकि विचार ही सृष्टि है। द्रष्टा को ढूँढने का भी यही अर्थ है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर इसका आशय क्या निकलता है? समझाती हूं। यह तो स्पष्ट है कि द्रष्टा – या विषयी कहो – वह अपने को 'केवल' द्रष्टा के रूप में नहीं विचार के भीतर से विचार के विषय रूप में ही *जान* सकता है। पर एक और बात सोचो। आकाश ने सामान्यों की बात की। विचार सामान्यों में ही होता है। पर विचार भेद या व्यावृत्ति करता चलता है – सामान्यों को अलग करता है, फिर उनकी योजनायें बुनता है। तभी वह सत् के साथ असत् की कल्पना कर सकता है, असत् का धारण कर सकता है। प्रश्न कर सकता है, कल्पना कर सकता है। जैसे सोच रहा था, उससे अलग सोच सकता है। द्रष्टा को स्वतन्त्र कहा गया – क्योंकि विचार अपने को स्वतन्त्र पाता है – नहीं तो विचार होगा ही नहीं । और तभी वह अपने विषय को कई तरह से, कई आपस–में–विरोध–करते रूपों में बुन सकता है – तभी मतभेद खड़े होते हैं। द्रष्टा को भी वह सामान्य के रूप में – द्रष्टा–भाव के रूप में – देखता है, और दूसरे सामान्यों के पसारे से हटा कर – व्यावृत्त कर के – देखता है। पर द्रष्टा वह स्वयं है तो अपनी खोज उसे व्यावृत्तियों से परे किसी परम सत् की ओर ले जाती है जो विचार के परे लगता है, पर वह क्या है यह देखना विचार के वलय में ही होता है जो व्यावृत्ति के बिना नहीं बनता। मोक्ष की बात हुई। मोक्ष को यों समझो कि विचार अपनी सीमा की कल्पना कर उससे बाहर निकलना चाहता है। पर दूसरे आदर्शों की तरह यह आदर्श भी विचार का है और विचार में ही रहता है।

हां, एक पहेली फिर भी रह जाती है। तुम पूछोगे कि यह दृश्य–*जगत्* का पसारा कहां से आया? अभी तक तो मैंने विचार के ही द्रष्टा और उसीके दृश्य होने की बात की। पर जगत् तो अलग अपने आप में है, और वह विचार से जैसा चाहो वैसा बुना नहीं जा सकता। विचार सत्य चाहता है तो विचार को उसके अनुरूप ढलना होता है, वह विचार के अनुरूप नहीं ढलता। उसकी स्वायत्त सत्ता है। (अचकचाती है) : प्रश्न टेढ़ा है, मैं मानती हूं, पर मैं समझती हूं कि यह भी विचार का ही रूप है। नहीं तो इसमें अनेक की एक सूत्र में बँधी योजना, व्यवस्था, कहां से आती? हम आम तौर पर विचार को अपने सोचने से जोड़ते हैं। पर विचार परम सत् है। वह हममें रूप लेता है, *हमारा* नहीं होता। तभी हम द्रष्टा–भाव की बात करते हैं जो हमारे 'हम' से परे होता है, उसके ऊपर उठता दिखता है। तभी हम उसके आरोह को भाँप सकते हैं। पर उसका एक अवरोह भी होता है। हम उसको भी एक सीमा तक देख सकते हैं। नाम–रूप की बात हो चुकी है। जगत् हमारे लिये नाम–रूप ही है। नाम सामान्य होता है – यों हमारे लिये जगत् सामान्यों का ही ताना–बाना होता है। हम समझते हैं कि इन्द्रिय ही जगत् को जानती है और उसका अपना अलग ज्ञान होता है जो सामान्य नहीं विशेष होता है। पर जो बिलकुल विशेष हो उसका ज्ञान होगा ही कैसे – ज्ञान तो एक व्यवस्था के भीतर होता है जो सामान्यों की ही हो सकती है। इन्द्रिय जानती कुछ नहीं है – इसकी भी हम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चर्चा कर ही चुके हैं। जानता विचार ही है। हम कोई चीज़ या वस्तु देखते हैं, जैसे यह मेज़। पर आकाश ने ठीक ही कहा कि इसको एक ही दृष्टिकोण से देखते है, दूसरे दृष्टिकोणों से वह दिखती ही अलग है। फिर भी उसे जो हम 'वही वस्तु' समझते हैं, 'सबके लिये वही वस्तु' समझते हैं, वह इसलिये कि वह विचार की वस्तु होती है – सामान्य होती है, तभी सबके लिये होती है। उसका इन्द्रिय–देखा विशेष – 'यहां–रखी मेज़' – यह सामान्य के अंतर्गत ही होता है। यह देखो कि 'यहां' भी, 'रखा होना' भी और 'मेज़' भी, सब सामान्य हैं, और देश–काल, जिसमें विशेष का प्रत्यक्ष होता है उसकी विचार के बिना कल्पना ही नहीं हो सकती। यह ठीक है कि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि इन्द्रिय को बोध होता है। पर इन्द्रिय की जब अपनी कोई आँख नहीं तो मैं समझती हूं उसे विचार की ही एक वृत्ति समझना ठीक है – एक निचली वृत्ति। उसमें और उसके विषय में एक विषय–विषयी–भाव होता है जहां दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। इसलिये विचार वहां प्रकट नहीं होता, जैसा हम जानवरों में देखते हैं। वहां ग्राह्य–ग्राहक–भाव है, पर उसके ऊपर का आरोह नहीं जहां विचार आत्मबोध में जागने लगता है। सवाल हो सकता है कि क्या जानवरों का ग्राह्य-ग्राहक–भाव सामान्य नहीं विशेष के रूप में ग्राह्य का ग्रहण करता है? इसका क्या उत्तर हो, सहज ही नहीं कह सकती – क्योंकि जानवर के *जानने* की बात नहीं की जा सकती। पर जानवर भी एक व्यस्था को मान कर चलता है जो सामान्यों की ही हो सकती है – और फिर यह सोचो कि बाघ के लिये हिरन 'शिकार के लायक कुछ' ही हो सकता है, 'हिरन विशेष' जैसा कुछ नहीं। यह मनुष्य में ही है, पर उसमें विशेष का बोध सामान्य के साथ ही, सामान्य के भीतर से ही जागता है। पर जानवर की तरह मनुष्य का भी ग्राह्य–ग्राहक–भाव उसे एक स्वायत्त जगत् और जगत्–बोध से बाँधे रखता है – जो 'विचार का बनाया हुआ' जैसा बिलकुल नहीं लगता। उसकी अपनी सत्ता होती है। पर मनुष्य के जगत्–बोध नाम–रूप का जगत् होता है और 'नाम' के साथ वहां विचार और विचार के सामान्य–बोध का अंकुर सर उठाता दिखता है – तभी मनुष्य अपने जगत् को भाषा से पकड़ता है, जो सामान्य में बसती है। पर वह विचार की आँख से अपने देखने को भी देखता है तो इस बात को पकड़ सकता है। लेकिन अब तुम पूछोगे कि जीव और मनुष्य को माना पर जड़ जगत् को मैं विचार की सृष्टि कैसे कह सकती हूं? वहां तो ग्राह्य–ग्राहक–भाव की बात भी सम्भव नहीं। पर वहां भी एक योजना है, व्यवस्था है जिसे विचार के ही पेटे रख सकते हैं। फिर यह सोचो कि विज्ञान इस जड़ जगत् को ही विषय बनाता है – पर विज्ञान से विचार को निकाल दो तो उसकी पकड़ की मुट्ठी में बचेगा क्या? अणु, ऊर्जा ये क्या हैं, अगर सामान्य नहीं और एक सामान्य-व्यवस्था के अंग नहीं जिसे विचार ही पकड़ सकता है!

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सिद्धर्षि : शिखा विचार के ही गुण गाती रही है। अब विचार को उसने सभी कुछ बना दिया। पर विचार अपने को ही नहीं, अपने बाहर भी देखता है। द्रष्टा को ही लो। विचार उसे जानता है तो यह भी जानता है कि उसे पा नहीं सकता, वह उसकी पहुँच के बाहर है। पर द्रष्टा के बिना दृश्य का भी कोई अर्थ नहीं – (कुछ ठिठक कर) और यह भी ठीक है कि हम जो देखते हैं, दृश्य के रूप में ही देखते हैं; द्रष्टा ही देखता है, और हमें यह भी लगता है कि हम वही हैं, उसे हम किसी रूप में भाँपते भी हैं, पर उस *तक* नहीं पहुँच सकते – विषय बना कर *जानते हुए* नहीं पहुँच सकते। पर उसके बिना भी 'देखने' या 'जानने' का क्या अर्थ होगा? विचार अगर चेतन द्रष्टा का विचार नहीं हो तो वह भी अपने आप में जड़ का ही एक रूप नहीं हो सकता क्या? विज्ञान की समझ तो यही कहती लगती है।

(जैसे अपनी इच्छा के विरुद्ध सोचता हुआ) : द्रष्टा सचमुच स्वतन्त्र जान पड़ता है। विचार से भी स्वतन्त्र – उसे किसी भी नियम में, किसी भी घेर में नहीं डाला जा सकता। मुझे लगता है कि उसीकी स्वतन्त्रता की छाया विचार पर है – तभी विचार दृश्य से हट कर दृश्य को *देख* सकता है – उसे परख सकता है। विचार बढ़ता ही सच और झूठ में अंतर कर के है। विचार स्वतन्त्र है तभी विचार में सच-झूठ दोनों होते हैं। शिखा ने पिछली बार विचार में सच और झूठ दोनों के होने की बात उठाई थी। पर यह द्रष्टा की स्वतन्त्र आँख होने की निशानी है – तभी हम अलग रह कर *देख* सकते हैं।

(अपनी ही बात पर अचंभा करते हुए) : लेकिन देखो मैं तुम लोगों की संगत में पड़ कर तुम्हारी तरह ही बेलगाम दीवाना होता जा रहा हूँ। जाने कैसी बातें सूझ रही हैं! (सर झटका कर) : पर फिर भी कहूंगा कि हम दृश्य से स्वतन्त्र द्रष्टा ही सही, पर देखने का एक ढंग होता है, देखने में हमें बहक तो नहीं जाना चाहिये। दृश्य पर आँख रखनी चाहिये, जिसका संकेत इन्द्रियां ही देती हैं। जगत् से सीधा संपर्क उन्हीं का होता है।

यह भी तो सोचो कि विचार के अपने नियम भी हैं – उसके अपने कहने-नहीं कहने के बंधन हैं, जो उसके भीतर ही बने हुए हैं और उसे बाँधते हैं। विचार का अपना देखने-समझने का एक तरीका, एक प्रकार है जिससे हमें जान-बूझ कर भटक नहीं जाना चाहिये। पृथु ने कहा कि विचार उत्तर नहीं दे सकता, प्रश्न ही कर सकता है – यह बात शिखा को याद दिला रहा हूं, वह विचार को ही द्रष्टा समझ बैठी है, इन्द्रियों को भूल गई। दृश्य का सीधा सामना तो इन्द्रियां करती हैं। विचार की विशुद्ध आँखों से 'होने' के सत्य को नहीं देखा जा सकता। माना, इन्द्रियां अपने आप में कुछ जानती नहीं हैं, गूंगी होती हैं – यह बात हम कर चुके हैं, मुझे ध्यान है – पर इन्द्रियों के बिना विचार भी जो 'है' उसे नहीं देख सकता। अपने आप में 'होने' के प्रति अंधा ही होता है। यह ठीक है – और हम कह-सोच भी चुके हैं – कि इन्द्रियों के साक्ष्य को भी हम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विचार की वस्तु बना कर ही स्वीकार करते हैं, और तभी विषय में – जो केवल प्रतीत होता है – और वस्तु में, जो वास्तव में है – इनमें भेद करते हैं। तभी रंग, स्पर्श, गंध को वस्तु से अलग केवल प्रतीत-होते विषय की कोटि में भी रख सकते हैं। पर वस्तु के होने की कसौटी तो फिर भी इन्द्रियां ही होती हैं – विचार की वस्तु तो कल्पना ही होती है। वस्तु का होना उसका देश-काल में 'होना' है : वस्तु होगी तो उसका देश में विस्तार होगा, काल में कुछ समय टिकेगी, नहीं तो उसे वस्तु ही कैसे कहेंगे! और यह ज्ञान इन्द्रियों के बिना सम्भव नहीं है। सच यह है कि इन्द्रियों को हटा दो तो वस्तु ही हट जायेगी। ठीक है, देश-काल इन्द्रियों को नहीं दिखते, पर कहना यह चाहिये कि इन्द्रियों को इनका अलग से कोई बोध नहीं होता। पर इन्द्रिय के वस्तु-बोध में देश का बोध तो साफ़ ही अंतर्निहित होता है। काल का बोध वस्तु की गति से, परिवर्तन से होता है। मैं तो यहां तक भी मानने को तैयार हूं कि देश-काल अलग से कुछ नहीं होते, वस्तु के साथ ही इनका बोध होता है। पर इन्द्रिय ही तो वस्तु को देश-काल में देखती है। इन्द्रियों न हों तो न वस्तु होगी, न देश-काल। फिर सृष्टि की ही बात क्या होगी? यह बात यहां फिर उठाई जा सकती है कि विज्ञान, जो कि इन्द्रिय-बोध को ही आधार बना कर इन्द्रिय-विषय का स्वरूप-बोध करने की ओर दूर तक बढ़ निकला है, वह वस्तु नाम का कोई अवयवी नहीं मानता, विज्ञान के लिये परमाणु और ऊर्जा इन दोनों के विचित्र गुच्छे या संभार ही वास्तव होते हैं – इन्हीं को हम वस्तुओं या अवयवियों के रूप में देखते हैं। पर हमारा ऐसा देखना भ्रांत है। पर फिर तो विज्ञान के यन्त्र, जिनसे विज्ञान देखता है, वे भी भ्रान्त होंगे – वे अवयवी ही होते हैं। हमारे विज्ञान के सिद्धान्त, वे भी अवयवी होते हैं, वे भी भ्रान्त होंगे। हमारा सारा व्यवहार, हमारे दुख-सुख, न्याय-अन्याय, आदर्श, साधना – हमारा पूरा का पूरा होना और देखना – जिसमें विज्ञान भी आ जाता है – सब ही धोखा होगा।

(थोड़ा सोच कर) : एक बात सूझ रही है जो सामने रखता हूं – तुम लोगों में फँस कर झख मार कर विचार के जाल में पड़ गया हूं! जो कहना चाहता हूं उसे भी विचार का ही विचित्र फैलाव कह सकते हो। यह तो ठीक है कि इन्द्रिय और विचार दोनों के मेल से हमारा वास्तव जगत् बनता है, पर दोनों का मेल सत्य के रास्ते से हट भी जा सकता है। कारण यह है कि विचार स्वतन्त्र होता है, सामान्य होता है, कोटियां बनाता है, और तरह तरह से बना सकता है – उसी सामने दिखते हुए हमारे रहने-जीने के प्रत्यक्ष जगत् को अपनी कल्पना की कोटियों में डाल कर बिल्कुल बेगाना कर दे सकता है। वह सामान्यों में देखता है। तभी उसको शब्दों की ज़रूरत होती है जिनके अर्थ होते ही सामान्य हैं – विचार सीधा देखता ही नहीं, शब्द के माध्यम से देखता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(फिर उलझन का अनुभव करते हुए) : यह एक बेढब स्थिति है कि इन्द्रिय, जो जगत् का साक्षात् करती है, वह विशेष का ग्रहण करती है, पर गूंगी है। और विचार जो मुखर है वह सामान्यों का ही ग्रहण करता है और कल्पना का सहारा लेता है। क्या अचंभा कि दोनों के सही मेल में समस्या खड़ी हो सकती है। मैं तो कहूंगा कि व्यवहार ही दोनों को मिलाता है और दोनों के तोल को सही रखता है।

अनुभूति : (शिखा जवाब देना चाहती है, पर उसे चुप कराते हुए) : मैं तुम सबकी बातें सुनती रही हूं, पर मेरा ध्यान ऋषि की ही बात पर है। मैं बात को फिर अपनी तरह उधर ही ले जाना चाहती हूं। अब देर भी होने लगी है। मेरी बात सुन लो, फिर उठेंगे। ऐसी बातों का कोई अंत नहीं। पर आकाश ने ठीक कहा कि ऋषि के सूक्त ने हमारे सोचने को एक नया आयाम दिया है। मैं समझती हूं कि मैं भी जो सोचती रही हूं उसमें एक सूझ का पहले से बड़ा द्वार खुला है। आज जो बातें हुईं उनमें मैं नहीं जाऊंगी। तर्क नहीं करना चाहती। पर बातें मेरे मन में हैं। लेकिन कहूंगी अपनी ही। अपनी सूझ ही सामने रखना चाहती हूं – जितना, जैसा भी रख पाऊंगी।

ऋषि की बात बड़ी विकट बात है, पाँव रखने को कहीं जगह ही नहीं छोड़ती। पर बड़ी गहरी भी है। होने के बारे में अजीब, अनहोनी, प्रश्न से पूरी की पूरी बिंधी, दृष्टि है। सोचो, आदमी में प्रश्न का गुबार कितना पुराना है! और आज भी वहीं का वहीं है!

(पल भर रुक कर, पृथु की ओर देखते हुए बात को आगे बढ़ाती है, एक दिशा देती है) : मुझे याद है, पृथु, तुमने रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक कविता सुनाई थी – उसमें भी एक गहरा, होने की जड़ में ही उतरता सवाल था। पर एक बड़ा फ़र्क भी था। वह सवाल सृष्टि को मान कर ही चल रहा था। सवाल सृष्टिकर्त्ता के बारे में था – 'कौन हो तुम?', यह टेक थी कविता की – पहले दिन का उगता सूर्य यह सवाल पूछता है और अंतिम दिन के ढलते सूर्य के मुँह में फिर यही सवाल वहीं का वहीं रहता है – सृष्टि हो के पूरी बीत जाती है पर बिना किसी जवाब के, या जवाब की ओर मुड़ते हुए किसी इशारे के। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता से लगता है सृष्टि ही मानो प्रश्न कर रही हो कि मेरा आधार कौन, उद्देश्य क्या? मैं हूं, पर किसकी हूं? कौन है जो मेरे पीछे है, मेरी जड़ है? कौन है जो मेरा कर्त्ता है, जो मुझे चलाता है और किस लिये? या सृष्टिकर्त्ता न कहो, ऋषि जो कहते हैं उसी शब्द को लो, 'अध्यक्ष'। सृष्टिकर्त्ता तो सृष्टि करने के बाद सृष्टि से अलग हट कर उसे भूल भी जा सकता है। हम अपनी सृष्टि के साथ ऐसा करते ही हैं। पर अध्यक्ष तो ऐसा नहीं होना चाहिये। (विषाद के साथ) सृष्टिकर्त्ता अपने बच्चों तक को भी भूल जा सकते हैं। मुझे अनुभव है। भूले हुए बच्चे के मन में यही काटता हुआ प्रश्न कांटे की तरह चुभता रहता है, मेरा अध्यक्ष, मुझे देखने-सँभालने वाला भी कोई है क्या? ऋषि के सूक्त में मानो सृष्टि भी यही पूछती है, मेरा *अध्यक्ष* कौन है? है भी तो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मेरा धारण करता है क्या? मुझे जानता-समझता-सँभालता है क्या? कौन जान सकता है? सृष्टि यह कैसे जाने कि कोई इसे जानता-समझता है, इसकी देख-सँभाल करता है, इसकी परवाह रखता है?

(कुछ भाव में आ कर, गहरे दुःख के साथ) : यह सोचो कि हम जो सृष्ट हैं, सोच-समझ सकते हैं, सृष्ट होने का अनुभव कर सकते हैं, हम कैसे भरोसा करें कि हमारा कोई अध्यक्ष भी है, जो अपने सृष्ट किये हुए को जानता-समझता है, उसकी परवाह करता है, ध्यान रखता है? क्योंकि ऐसा होता तो क्या सृष्टि की यही गति होती जो पल पल हमें कचोटती है। थोड़ी भी आँख खुली हो तो इसमें दुख-दर्द, अन्याय का अंबार ही दिखाई देता है – मृत्यु के दंश में बसी निरी नृशंस निरर्थकता। जानवर जानवर को खाता है, मनुष्य मनुष्य को सताता है! सृष्टि ऐसी तो बिल्कुल नहीं जैसी होनी चाहिये। किसी भी सोचने-समझने वाले को निराश ही करती है! मर्मी जनों ने, साधु-संतों ने, जैसे कबीर ने, ठीक ही कहा है – 'यह संसार झाड़ और झाँखड़, उलझ पुलझ मर जाना है'। समझ और संवेदना के साथ सृष्टि की साज-सँभाल रखने वाले अध्यक्ष के होने का यह लक्षण नहीं हो सकता!

(फिर बात के एक दूसरे पक्ष को सोच कर, शांत भाव से) : पर एक बात फिर भी सोचो – हम सृष्ट भी हैं तो भी हम सृष्टि में हिंसा-मृत्यु की विभीषिका देख पाते हैं। दोष देख पाते हैं। यह कैसे होता है? यह इसलिये होता है क्योंकि सृष्टि का अध्यक्ष हमारे भीतर अपनी आँख खोलता है – तभी हम सृष्टि को द्रष्टा की तरह देखते हैं – सृष्टि बनाई जिसने भी हो, हम उसे देख सकते हैं। हम सृष्टि में दोष भी देख सकते हैं।

(एक नया सवाल उठाते हुए) तो क्या हम सृष्टि से अलग ही हैं? अजीब बात है। हम ही सृष्टि के बारे में कुछ सोचते-कहते हैं। बाकी सृष्टि तो कुछ नहीं कहती। बस लाचार सी प्रवाह में बहती जाती है। जड़ ही नहीं, जीव-जन्तु भी एक लकीर पर बेबस चले जाते हैं – यन्त्र की तरह। पर हम ऐसा नहीं करते। हम सवाल उठाते हैं – कुछ अपनी तरह चलने की चेष्टा करते हैं। सृष्टि जैसी होनी चाहिये उधर बढ़ने की ओर व्याकुल होते हैं। पर हम जो दुनिया बनाते हैं उसके ही अपने को शिकार भी पाते हैं। अजीब तिलमिला देने वाली गति है – कहीं आकाश नहीं दिखता।

पर सूक्त पर आओ। ऋषि भी हमारी तरह मनुष्य ही थे। पर उनको हम ऋषि कहते ही इसलिये हैं कि ऋषि की आँख हम साधारण लोगों से गहरी-उतरती मनीषा की आँख है – इस सूक्त में भी ऋषियों के बारे में कुछ ऐसी बात कही गई है। सूक्त कहता है – 'ऋषियों की स्थिति अवर है पर उनकी चेष्टा पर की ओर'।

(अपनी बात पर आते हुए) : ऋषि केवल सवाल ही नहीं उठाता, जवाब के किवाड़ भी खोलता है। उसके सवाल की आँख जवाब की ओर है। वह जानता है कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सृष्टि का अध्यक्ष सृष्टि के भीतर ही है, मनुष्य में जागता है। अगर ऐसा न हो तो हममें ये सवाल ही नहीं उठते कि 'क्या है?', 'क्या नहीं है?', और इससे भी बढ़ कर कि 'क्या होना चाहिये?'। हम ऋषि न हों, ऋषि की संतान तो हैं – हम भी बैठे यही सवाल उठाते रहे हैं।

लेकिन यह भी सोचो कि ये सवाल सृष्टि के बाद ही उठ सकते हैं। ऋषि ठीक ही कहता है कि सृष्टि के पहले जो था वह न सत् था, न असत्। वह तुच्छ था। (कुछ सोच कर) अभी मैंने तुच्छ को झाड़-झंखाड़ कहा जिसमें उलझ-पुलझ कर हम मर जाते हैं। पर सृष्टि का दोष तो सृष्टि के बाद ही उपजता है। सृष्टि के दोष को – जो उसमें होना नहीं चाहिये उसे – 'तुच्छ' नहीं कह कर 'असत्' कहना चाहिये जो सत् के साथ ही उपज सकता है। सृष्टि के पहले जो तुच्छ था उसका तो कोई स्वरूप ही नहीं हो सकता था, तभी तो उसे तुच्छ ही नहीं, होने-न होने से बाहर कहा गया है। जिसका स्वरूप ही नहीं हो उसके होने की बात भी नहीं उठ सकती – फिर उसके न होने की बात भी कहां से उठेगी? नहीं होना तो होने की ही उलटी पीठ है, होने के बिना उसकी कल्पना ही सम्भव नहीं। पर ऐसा है तो फिर यह तीखा सवाल आड़े आता है – सृष्टि हुई ही क्यों? जो होने-न होने से परे था, तुच्छ था, वह अँधेरे में डूबा हुआ पूरा का पूरा सपाट अँधेरा था, उसमें होने की हलचल जागी ही क्यों? इसका कोई कारण – अर्थात् कोई *प्रयोजन* – तो होना चाहिये!

(कुछ अपनी बात पर मनन सा करते हुए) : मुझे याद है पृथु ने हमारी पहली ही चर्चा में यह सवाल उठाया था कि कि कुछ है ही क्यों? यही पहला सवाल है। तह का सवाल है। कुछ नहीं भी तो हो सकता था। उस कुछ नहीं को नाम कुछ भी दो। ऋषि उसे सत्-असत् के बाहर कहता है और 'तुच्छ' का नाम देता है – पर नाम कुछ और दे लो। पर नाम एक कहने की ही बात होगी। वह ऐसा कुछ था नहीं जिसे नाम दिया जा सके। उसके कुछ होने के लिये उसका किसी स्वरूप में जन्म होना चाहिये था और इसका कोई प्रयोजन होना चाहिये था। मैंने अभी होने के साथ 'कारण' शब्द का भी प्रयोग किया था, पर वह ठीक नहीं है। कारण तो 'होने' को मान कर चलता है। उसे तो पहले से 'कुछ होने' में ही शामिल किया जा सकता है। 'कुछ नहीं' से 'कुछ होने' का कारण क्या हो सकता है? कारण तो होने के सिलसिले के भीतर ही हो सकता है। 'नहीं होने' से 'होने' की बात प्रयोजन की ही बात हो सकती है। प्रयोजन अर्थ का संधान होता है, वह स्वतन्त्र होता है, नहीं होने की कोख से ही जन्म लेता है। हमारी बातों को ही लो। हम जो प्रश्न करते हैं, जिज्ञासा करते हैं, इसका कारण क्या हो सकता है? प्रश्न और जिज्ञासा तो कारण के जंजाल से निकल कर ही हो सकते हैं। बात अर्थ ढूँढने की है – जिसे स्वतन्त्र प्रयोजन कहा जा सकता है। सृष्टि किसी अपने ही स्वतन्त्र प्रयोजन से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ही हो सकती है – उसके कारण की बात बनती नहीं है। मैं समझती हूं कि यह बात ऋषि जानता है। तभी ऋषि ने एक बड़ी पहुँच की बात कही है जो मेरे मन में एकदम चुभ गई। सृष्टि के होने के बारे में ऋषि कहता है, 'सबसे पहले काम आया'। कोई माँग जागी। यह माँग अर्थ की चाह ही हो सकती है। मुझे लगता है कि ऋषि ने सृष्टि के पहले के अँधेरे में उतर कर उस की धमनी को पहचाना है, वह अपनी मनीषा की सच-के-स्परश में जागती अंगुली सृष्टि के 'होने' की शिरा पर रख पाया है।

(अपनी समझ को समेटती हुई सामने रखती है) सृष्टि के पहले जो तुच्छता थी, सपाट, बेमानी अँधेरा था वह सत् की सुषुप्ति की अवस्था थी। तभी जो था वह तुच्छ था। उस तुच्छता को सुषुप्ति मैं इसलिये कह रही हूं कि वह अवस्था एक सार्थक सम्भावना की अवस्था थी, विज्ञान का जड़ अव्यक्त नहीं। ऋषि कहता है कि जब न मृत्यु थी तो अमृत भी नहीं था, असत् नहीं था तो सत् भी नहीं था – फिर भी निर्जीव, निर्वात ही सही, अपने में स्थित वह 'एक' था। दूसरा कोई न था। उस एक के दूसरा होने में ही सृष्टि का बीज है। यहां यह देखो कि ऋषि एक बड़ी रहस्यभरी, पर बड़ी अतल दृष्टि की बात कहते हैं। ऋषि कहते हैं कि तप की महिमा से *उस एक ने जन्म लिया*। संकेत यह है कि अब तक वह एक अपने ही अँधेरे में डूबा था, तुच्छ था – उसके होने- नहीं होने का कोई अर्थ ही न था – तभी उसे सुषुप्त कह रही हूं – अपने होने से अनजान। अब उसमें अपने को, अपने अर्थ को पाने की प्रेरणा जागी – यही उसके सुषुप्ति से जागने का बीज था। पर यह ध्यान में रखो कि पहले जो था वह 'एक' ही था, दूसरा था ही नहीं। दूसरा उससे अलग नहीं हो सकता था - होता तो होने के भीतर ही, उसकी जड़ में ही, बिखराव होता – आधार ही अस्त-व्यस्त होता, एक ऐसी सम्बन्ध-शून्य अव्यवस्था होती जिसमें कुछ हो ही नहीं सकता था। पर वह 'एक' था तो अर्थ की सम्भावना भी उस में छुपी थी, हां, पर अँधेरे में थी। तभी उस स्थिति को 'तुच्छ' कहा गया है। अब जब उसमें अर्थ की चाह जागी तो वह 'एक' अपना ही अर्थ ढूँढने के लिये अपना दूसरा हो गया। आत्मचेतना की तरह। अपने ही में निहित पर छुपे अनजान अर्थ को देखने-पाने के लिये उसमें अपने ही भीतर अपना ही संधान करने की प्रवृत्ति जागी। ऋषि जब कहता है कि पहले काम आया तो यह अर्थ की ओर मुड़ती प्रवृत्ति के ही उदय का संकेत है – जो स्वयं, अकारण, स्वतन्त्र जागती है। इस प्रवृत्ति को ऋषि 'काम' कह रहा है। पर, मैं समझती हूं, यहां शब्द 'काम' नहीं '*प्रेम*' होना चाहिये था – ऋषि कहना यही चाहते थे। प्रेम ही ऐसी प्रवृत्ति होती है जहां 'एक' अपना दूसरा हो कर अपनी ही खोज में लग जाता है। या चाहो तो इस प्रवृत्ति को 'काम' ही कह लो, पर यह मामूली काम या कामना का निरर्थक आवेग नहीं हो सकता। यहां बात उस कामना की नहीं हो सकती जो अंधी होती है – कारण के बेबस प्रवाह में बहती है,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वतन्त्र नहीं होती। उसे असत् ही कहना चाहिये – उसमें अर्थ का संधान नहीं हो सकता। ऋषि जब कहता है कि काम के पहले तप जागा तो सोचो कि 'काम' यहां मामूली कामना कैसे होगी? पर शब्द जो भी हो ध्यान में यह रखना होगा कि ऋषि यहां एक रूपक बाँध रहा है – सृष्टि के आरम्भ को एक नाटक की तरह कह रहा है – पर एक ऐसा नाटक जो अगाध सत्य की व्यंजना करता है। वह सत्य जो सीधे सीधे कहने में नहीं आ सकता, रूपक के सिवा किसी और तरह से कहा ही नहीं जा सकता। पर थोड़ी बारीकी से देखो कि सृष्टि के इस रूपक में या नाटक में आगे क्या होता है? ऋषि के शब्दों पर ध्यान दो। शब्द ये हैं कि वह 'एक' जो अँधेरे में था वह अँधेरे से निकला और उसका *जन्म* हुआ। आशय यह कि अब वह अपने ही लिये प्रकट हुआ। पर जब वह एक ही था तो उस 'एक' के जन्म लेने का क्या अर्थ हो सकता है? ऋषि कह यह रहे हैं कि वह अब अपने ही लिये *प्रकट* हुआ। पर अपने ही लिये प्रकट होने के लिये अपने से अलग भी होना पड़ता है – अपनेपन में रहते हुए भी अपना ही दूसरा – अपने से पराया – होना होता है! यही सृष्टि के होने का बीज भी है और मर्म भी। अगर यह सवाल पूछो कि वह जो 'एक' था वह अपने से अलग हो कर अपना ही दूसरा हुआ क्यों? किसलिये हुआ? उसके अपने ही भीतर इस विचित्र विछोह का प्रयोजन क्या था? तो उत्तर यही है : प्रयोजन था अपने अँधेरे की तुच्छता को मिटा कर अपने को, अर्थात् अपने अर्थ को, जानना और पाना।

पर तुम फिर भी पूछोगे, इसका प्रेम से क्या सम्बन्ध? तुम कहोगे कि बात ज्ञान की है और मैं प्रेम का राग अलापे जा रही हूं। पर ऋषि की बात पर भी ध्यान दो। ऋषि क्यों ज्ञान की नहीं काम की बात करता है – यों ही तो नहीं करता! – और काम से यहां प्रेम की ओर ही इशारा हो सकता है। पर ऋषि की बात चाहे जाने भी दो, तो भी मैं नहीं समझती कि बात यहां ज्ञान की हो सकती है। ज्ञान जिसे जानता है उससे सदा एक दूरी रखता है, तटस्थ होता है। पर वह 'एक' अपने से विलग हुआ ही इसलिये कि अपने को *पा* सके, अपने ही साथ अपने को *पाता हुआ*, अपना *होता हुआ* अपने से एक हो सके। यह प्रेम की ही बात है। ज्ञान की यहां बात करो भी तो वह यहां प्रेम के ही भीतर उसका अंग ही हो सकता है। ऋषि की बात गहरी पकड़ की बात है। ज़रा उसमें भीतर उतर कर ध्यान दो कि कहते क्या हैं ऋषि: जब अँधेरे में डूबी तुच्छता ही सब कुछ थी तब तप की महिमा से उस एक ने जन्म लिया। क्या यह अपने ही भीतर अपने को पाने की व्याकुलता के जागने की बात नहीं है? यह बात प्रेम की ही हो सकती है। जैसे कृष्ण ने अपने ही को पाने के लिये राधा का रूप लिया हो। यहां ज्ञान की बात भी हो सकती है, पर प्रेम के भीतर से – क्योंकि राधा ही *जान* सकती है कि कृष्ण क्या है, पर वह जान इसलिये सकती है क्योंकि वह कृष्ण को पा कर कृष्ण हो जा सकती है। राधा का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कृष्ण को जानना कृष्ण हो कर जानना है। पर सच्चा ज्ञान भी वही है जो प्रेम के भीतर जागता है, दूरी नहीं रखता। पर ऋषि की बात में यह भी इशारा है कि राधा के बिना कृष्ण सूने हैं। कृष्ण ही नहीं हैं – यानी उनके होने का कोई अर्थ नहीं है। तभी वे अपनी खोज में राधा का रूप लेते हैं। यही बात ऋषि अपनी तरह से कह रहे है। अपने होने के अर्थ की खोज ही सृष्टि का प्रयोजन हो सकती है। इसीलिये उस 'एक' ने अपने में से अपने ही भीतर जन्म लिया।

इस पाने के साथ तप की बात करते हैं ऋषि। इशारा विरह की ओर है। वह एक अपने से अलग हो कर अपने को खो देता है। पाने के लिये व्याकुल होता है, पर दूर भी हो जाता है। ढूंढता हुआ भटकता है। जिधर नहीं जाना चाहिये उधर चल पड़ता है, अँधेरों में डूब जाता है। यह देखो कि हम होना क्या चाहते हैं पर हो क्या जाते हैं। हमारा अर्थ अनर्थ से ग्रस्त रहता है।

(फिर कुछ आग्रह से, बात के कहने में एक नये वेग के साथ) यह प्रक्रिया अब भी चल रही है। यह सृष्टि कभी किसी भूतकाल में हुई थी या हो चुकी है, ऐसी बात नहीं है – हम सृष्टि की बात करते हैं तो उसे 'हुई *थी*' कह देते हैं, पर यह कहने की लाचारी है। सृष्टि सदा होती न रहे तो जो हुआ था, वह तो हो के *चुक* भी गया है! कह सकते हो सृष्टि काल में रूप लेती है, पर *होती* काल में नहीं है। पृथु ने सच ही कहा कि सृष्टि साध्य है और जो साध्य है, काल के बाहर है। प्रेम इसी साध्य का परम तत्त्व है और वह सदा साध्य ही रहता है। तभी ऋषि ठीक ही कहते हैं कि पहले प्रेम आया। 'पहले' का मतलब आने के काल से नहीं है – तात्पर्य यह है कि प्रेम ही सृष्टि का मर्म है, वही है जो सचमुच *है* – काल तो 'है' के बाद भी 'नहीं है' की अनचाही रेश है, सृष्टि में भी सत् के साथ असत् की डोर। वह सृष्टि को एक प्रक्रिया का रूप दे देता है जहां प्रेम रूपी सत् अपने ही भीतर अपने विछोह का असत् का पालता हुआ अपने सत् के लिये व्याकुल रहता है। अभी इतना ही कहूंगी, पर ऋषि की बात में मैं अपने सोचने की गूँज, अपने सोचने का प्रमाण पा रही हूं।

(सभा विसर्जित होती है)

□

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अद्वैत वेदान्त की ज्ञानमीमांसीय मूलाकृति

अम्बिकादत्त शर्मा

'श्रुतिरेव अद्वैते प्रमाणम्'—अद्वैत वेदान्त को मूलगामी स्वरूप में एक श्रुतिप्रामाण्यवादी दर्शन माना जाता है जो उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र नामक त्रिविध प्रस्थानों के माध्यम से वेद-वेदांग के तात्पर्य को 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियों में प्रतिष्ठापित करता है। 'एकमेवाद्वितीयम्' श्रुति एक शाश्वत चैतन्य तत्त्व की वाचक है जो इस जगत् का अधिष्ठान तत्त्व है और ब्रह्म, आत्मा इत्यादि इसकी अपर संज्ञाएँ हैं। यद्यपि वेदान्त परम्परा के अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय भी 'एकमेवाद्वितीयम्' को आधारभूत रूप में स्वीकार करते हैं लेकिन इसके साथ जिस अन्य श्रुति का योग दिखाकर अपने-अपने दार्शनिक चिन्तन की व्यावर्तक मूलाकृति को निर्धारित करते हैं वह भिन्न-भिन्न होता है।[1] अद्वैत वेदान्त की व्यावर्तक विशेषता 'एकमेवाद्वितीयम्' के साथ 'नेहनानास्ति किंचन' का योग दिखाकर पारमार्थिक अद्वैत और मायिक द्वैत की उपस्थापना करते हुए एतद्विषयक दार्शनिक चिन्तन की अवधारणात्मक मूलाकृति को केवलाद्वैत के रूप में प्रतिपादित करना है। केवलाद्वैत का तात्पर्य यह है कि निर्गुण, निर्विशेष, कूटस्थ ब्रह्म ही त्रिकालाबाधित रूप में सत् है और इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है वह मायिक होने से मिथ्या है। प्रश्न उठता है कि ऐसे किसी श्रुत्याधारित दार्शनिक तन्त्र की प्रतिष्ठा में तर्क-प्रमाण या किसी विशेष प्रकार की तर्कणा-पद्धति के लिए कितना अवकाश है? अद्वैत वेदान्त के प्रणेता आचार्य भगवत्पाद शंकर के भाष्यों में श्रुतिप्रामाण्य का अवलम्बन ही अधिक दिखाई पड़ता है, यद्यपि ब्रह्मसूत्रभाष्य का उपोद्घात लिखते हुए उन्होंने अध्यास विषयक एक तार्किक और ज्ञानमीमांसीय उपक्रम को अवश्य प्रस्तावित किया है जिसे अद्वैत वेदान्त के तार्किक विकास में एक महत्त्वपूर्ण पहल कहा जा सकता है। अतएव प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य भी इसी बात को उद्घाटित करना है कि तर्क और युक्ति-बल से विचार को उस दिशा में किस सीमा तक अग्रसारित किया जा सकता है जो अद्वैत वेदान्त के श्रुत्याधारित मूल प्रतिपाद्य से न्यूनाधिक निकट हो? साथ ही साथ हम यह भी देखने का प्रयास करेंगे कि अद्वैत वेदान्त की विकास-यात्रा में इसने किस तरह प्रतिफलित होते हुए एक विशेष प्रकार की तर्कणा-पद्धति का स्वरूप ग्रहण किया है।

यहाँ द्रष्टव्य है कि अद्वैत वेदान्त के त्रिविध प्रस्थानों में ब्रह्मसूत्र को न्याय-प्रस्थान कहा जाता है, लेकिन वही ब्रह्मसूत्र स्वयं ही तर्क के अप्रतिष्ठित होने की घोषणा भी करता है।[2] परन्तु तर्क अप्रतिष्ठित है, यह भी तर्क के द्वारा ही प्रतिष्ठापित हो सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

श्रुतियाँ ही यदि तर्क को अप्रतिष्ठित घोषित करें तब भी उसके पीछे एक तार्किक अभिप्राय अवश्य निहित होना चाहिए कि कुछ ऐसा है जो तर्क और युक्तियों की पहुँच से परे है। अर्थात् तर्क को अपनी स्वायत्तता में कम से कम इतनी भूमिका का निर्वाह अवश्य करना चाहिए कि वह स्वयं अपनी सीमा का निर्धारण करते हुए तर्कातीत का संकेत करे। अतएव अद्वैत वेदान्त में तर्क के अप्रतिष्ठित होने का तात्पर्य यह नहीं कि इसके लिए तर्क नितान्त तुच्छ और सर्वथा अनुपादेय है, बल्कि सामान्य अनुभव पर आधारित और प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अनुग्राहक तर्क की परमार्थ में अप्रवृत्ति ही उसका तात्पर्य समझा जाना चाहिए। भगवत्पाद शंकर[3] ने इस अभिप्राय को बड़े ही सुन्दर शब्दों में प्रकट करते हुए कहा है कि "जिस प्रकार वीणा का स्वरूप और लावण्य तथा तन्त्री के बजाने का सुन्दर ढंग मनुष्यों के मनोरंजन का ही कारण होता है, उससे किसी साम्राज्य की प्राप्ति नहीं हो जाती, उसी प्रकार विद्वानों का वाणि-कौशल, शब्दों की धारावाहिकता, शास्त्र व्याख्यान में पटुता और विद्वत्ता केवल भोग का ही कारण हो सकती हैं, मोक्ष का नहीं।" अभिप्राय यह है कि तर्क संवलित आनुभविक प्रमाणों से ब्रह्मज्ञान की उस अवस्था को प्राप्त नहीं किया जा सकता जहाँ 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' की प्रतिष्ठा होती है और नैसर्गिक अविद्या का सर्वतोभावेन विनाश हो जाता है। काँट भी अपने दार्शनिक चिन्तन में इस तथ्य को अवान्तर रूप से स्वीकार करते हुए प्रतीत होता है कि, 'डायलेक्टिक कैन ओनली एक्सपोज़ दि प्रीटेंशन्स् ऑफ रीज़न बट कैन्नॉट मेक ट्रांसेंडेंटल इल्यूज़न डिसएपियर।'

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त के परिप्रेक्ष्य में 'तर्काप्रतिष्ठानात्' का तात्पर्य तर्क का आत्यन्तिक रूप से निषेध नहीं बल्कि उसे अन्तरिम और नैमित्तिक मूल्य प्रदान करना है। अवधेय है कि मनुष्य की विचार-प्रक्रिया में तर्क और प्रमाण की अपेक्षा सभी स्तरों पर न्यूनाधिक रूप में अन्तर्विष्ट रहती है लेकिन यह अपेक्षा सदैव किसी न किसी प्रागपेक्षा के साथ प्रकट होती है। तर्क और प्रमाण जब स्वयं अपनी प्रागपेक्षाओं के प्रति आत्मचेतन होते हैं तो विदित होता है कि तर्क आदि का अपने आप में कोई सार्वभौमिक आकार अथवा स्वरूप नहीं होता। अनुभव में आने वाले जगत् की वैकल्पिक व्याख्या के लिए तर्कबुद्धि अनेक समानान्तर और यहाँ तक कि परस्पर विरोधी रास्ते अपनाती है। इस प्रक्रिया में तर्कबुद्धि की प्रागपेक्षाएँ जितनी व्यापक होती हैं तज्जनित विचार का आकार और उसकी दिशा उसी अनुपात में व्यापकता को अवाप्त कर लेते हैं।

अद्वैत वेदान्त में तर्क की अन्तरिम और नैमित्तिक भूमिका का प्रारम्भ वेदान्त वाक्यों में एकवाक्यता स्थापित करने की समस्या को लेकर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यदि श्रुतियों में आपाततः परस्पर विरोध दिखाई पड़ता है तो भगवत्पाद शंकर तर्क की सहायता से ही उनके अद्वैतपरक तात्पर्यार्थ को निर्धारित करते हैं, किन्तु तर्क के ऐसे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुप्रयोग को तत्त्व–स्वरूप के निर्णय के प्रति निर्णायक भूमिका प्रदान नहीं की जा सकती। द्रष्टव्य है कि इस एकवाक्यता की समस्या को श्रुति–वाक्यों में प्रतीत होने वाले पारस्परिक विरोध तक ही क्यों सीमित किया जाए? व्यापक परिप्रेक्ष्य में इस विरोध को श्रुत्यर्थ और लोकानुभव में प्रतीत होने वाले विरोध तक विस्तृत क्यों नहीं करना चाहिए? उदाहरण के लिए 'नेहनानास्ति किंचन' श्रुतियाँ कहती हैं, जबकि हम सभी का साधारण अनुभव इस नानात्व को सत्य मानकर ही प्रवृत्त होता है। इस तरह अद्वैत वेदान्त की विचार–प्रक्रिया में श्रुत्यर्थ और सामान्य अनुभव में एकवाक्यता अथवा सामरस्य दिखाने के लिए तर्क की नैमित्तिक भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाती है। इस हेतु तर्क और युक्ति से सशक्त कोई दूसरा मार्ग हो भी नहीं सकता। इस सन्दर्भ में तर्क की नैमित्तिक भूमिका का तात्पर्य उस प्रागपेक्षा के प्रति आत्मचेतन होना और सामान्य अनुभव की समीक्षा करते हुए उसे उद्घाटित करना है जिसके सन्दर्भ में श्रुत्यर्थ और साधारण अनुभव का सामरस्य प्रतिपादित किया जा सके। तर्क की ऐसी भूमिका का प्रदर्शन पूरे कौशल के साथ अद्वैत वेदान्त की परम्परा में मण्डन मिश्र, श्रीहर्ष, चित्सुखाचार्य और मधुसूदन सरस्वती की विचार–सरणी में देखने को मिलता है। इसी कारण इन आचार्यों के अद्वैतपरक चिन्तन को नव्यवेदान्त नामक एक नवीन प्रस्थान से अभिहित किया जाता है। इन सभी आचार्यों ने अद्वैतपरक श्रुति–वाक्यों और साधारण अनुभव के सामरस्य को एक विशेष प्रकार की तर्कणा–पद्धति का प्रयोग करते हुए उद्घाटित किया है। यद्यपि अद्वैत वेदान्त के कतिपय पूर्व आचार्यों के चिन्तन में भी इसी प्रवृत्ति का आरम्भ देखा जा सकता है लेकिन नव्य वेदान्त के उपर्युक्त आचार्यों द्वारा सामान्य अनुभव से सत्यापित भेदपरक रूढ़ दृष्टियों की व्यापक समीक्षापूर्वक श्रुत्यर्थ और साधारण अनुभव के अन्तरार्थ में समरसता दिखाते हुए अद्वैत वेदान्त की प्रतिष्ठा के लिए जिस प्रकार का विशुद्ध तार्किक उपक्रम किया गया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

नव्यवेदान्त के पूर्व अद्वैत वेदान्त के विकास में तर्क की नैमित्तिक लेकिन प्रौढ़ी भूमिका को गौडपादाचार्य की विचार–सरणी में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। द्रष्टव्य है कि श्रुतियों का तात्पर्य यदि 'एकमेवाद्वितीयम्' और 'नेहनानास्ति किंचन' में पर्यवसित होता है तो यावत् सृष्टि की व्याख्या अजातिवाद के परिप्रेक्ष्य में करना अद्वैत वेदान्त के लिए तार्किक रूप से अनिवार्य हो जाता है। गौडपादाचार्य अपने अजातिवाद की व्यापक उपस्थापना के द्वारा सफलतापूर्वक यह प्रतिपादित करते हैं कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यदि ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है तो ऐसे ब्रह्म को मूल कारण मानकर जगत् की उत्पत्ति आपादित नहीं की जा सकती। निर्गुण, निर्विशेष और कूटस्थ ब्रह्म के लिए इस प्रकार का कोई भी सृष्ट्यादि प्रपंच विवक्षित ही नहीं है। दूसरी ओर, देश, काल और कारण–कार्य नियम के बिना इस दृश्यमान् जगत् की अवधारणा ही नहीं की जा सकती है। लेकिन विडम्बना यह है कि कार्य–कारण विषयक कोई भी अवधारणा तर्क की कसौटी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर ख़री नहीं उतरती। इस बात को सिद्ध करने के लिए गौडपादाचार्य अपनी *माण्डूक्य कारिका* में कारणमूलक सृष्टि से सम्बन्धित अनेक सिद्धान्तों—ईश्वर विभूतिवाद, ईश्वरेच्छावाद, कालवाद, क्रीड़ावाद की तार्किक समीक्षा करते हुए उन्हें विचारासह्य पाते हैं। ऐसे ही कारण-कार्य सम्बन्ध के जितने भी तार्किक विकल्प हो सकते हैं उन सभी की समीक्षा करते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि कारण-कार्य नियम से बँधे हुए जगत् की संकल्पना एक लोकानुभव का विश्वास है, इसमें कोई युक्ति-सम्मत तात्त्विक सार नहीं। इस प्रकार गौडपादाचार्य का अजातिवाद एक तरह से जगत् की उत्पत्ति की सृष्टि-वैज्ञानिक व्याख्या का ही मौलिक रूप से विरोध करता है जो मूल रूप से वास्तविक कारण-कार्य सम्बन्ध पर आधारित होता है। अतएव कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त की विचार-प्रक्रिया में किसी प्रकार के वास्तविक सृष्टि-विज्ञान के लिए कोई अवकाश ही नहीं है (स्वप्नमाये मया दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा। तथा विश्वं इदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः। *माण्डूक्य कारिका*–II 31)।

यहाँ प्रासंगिक रूप से द्रष्टव्य है कि भारतीय दर्शन में कारण-कार्य-भाव का खण्डन जैसे गौडपादाचार्य ने मूलगामी रूप से किया है वैसे ही पूर्व में नागार्जुन ने भी और अधिक विस्थापक रूप से किया है। यद्यपि दोनों की खण्डनात्मक युक्तियों में आश्चर्यजनक समानता दिखाई पड़ती है फिर भी यह नहीं भूलना चाहिए कि दोनों की दार्शनिक पृष्ठभूमि एक दूसरे की विरोधी है। इसलिए दोनों दार्शनिक अजातिवाद नामक समान तार्किक उपक्रम से भिन्न-भिन्न दार्शनिक प्रयोजनों को पूरा करते हैं। नागार्जुन जहाँ शून्यवाद-निःस्वभावता का प्रतिनिधित्व करते हैं वहीं गौडपादाचार्य अशून्यवाद-स्वभाववत्ता का अनुमोदन करते हैं। गौडपादाचार्य का अजातिवाद वस्तुतः अज और आदि सिद्ध निरपेक्ष सत् की अवधारणा में मूलित है जबकि नागार्जुन का अजातिवाद कारण-कार्य की परस्पर सापेक्षता में आबद्ध अस्तित्व मात्र की निःस्वभावता में फलित होता है। बौद्ध परम्परा में कार्य-कारण की परस्पर निर्भरता ही प्रतीत्यसमुत्पाद है और जो इस प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है वही 'धम्म' को देखता है। वस्तुतः प्रतीत्यसमुत्पाद का दार्शनिक महत्त्व भी इसी बात में निहित है कि वह आदि सिद्धि मूल कारण, जो केवल कारण हो कार्य नहीं, का निषेध करते हुए जगत् की वैकल्पिक व्याख्या 'सापेक्षता' के रूप में करता है। इस प्रकार नागार्जुन के अजातिवाद में आदिसिद्ध और सिद्ध अन्त के लिए कोई स्थान नहीं है जबकि गौडपादाचार्य की दृष्टि में जिसका अस्तित्व आदि और अन्त में नहीं उसका वर्तमान में भी अभाव ही होता है (आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा)।

अब यदि अजातिवाद को मान लिया जाए तो उससे यही आपादित होता है कि सृष्टि अर्थात् जगदोत्पत्ति तत्त्वतः हुई ही नहीं और जगदोत्पत्ति तत्त्वतः हुई ही नहीं तो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दृश्यमान् जगत् को कथंचित प्रतीतिमात्र–'मायिक' ही मानना होगा। यहाँ अजातिवाद और 'जन्माद्यस्ययत:' नामक वेदान्तसूत्र में आपाततः विरोध दिखाई पड़ता है लेकिन वास्तव में ऐसा है नहीं, क्योंकि 'जन्माद्यस्ययत:' नामक वेदान्त सूत्र ब्रह्म के स्वरूप लक्षण को सूचित न कर उसके तटस्थ लक्षण को सूचित करता है। ब्रह्म मायोपाधि से युक्त होकर ही तटस्थ लक्षण को अवाप्त करता है। इस तरह माया अथवा अध्यास की अवधारणा पुनः अजातिवाद को तार्किक आधार प्रदान करने के लिए, या फिर अजातिवाद की तार्किक निष्पत्ति के रूप में अनिवार्य हो जाती है। अद्वैत वेदान्त के तार्किक विकास में इस महत्त्वपूर्ण पहल का पूरा श्रेय भगवद्पाद शंकर को दिया जा सकता है। यद्यपि भगवद्पाद शंकर अध्यास की अवधारणा का मूल उपनिषद् में (इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते) पाते हैं लेकिन एतद्विषयक उनके योगदान का महत्त्व इस बात में निहित है कि उन्होंने इस सिद्धान्त को अद्वैत वेदान्त का उपोद्घात बना कर उसे केन्द्रीय महत्त्व प्रदान किया है। वस्तुतः अध्यास की अवधारणा को केन्द्रीय महत्त्व प्रदान किये जाने के कारण ही शांकर वेदान्त 'केवलाद्वैत' के रूप में प्रसिद्ध हुआ और जगन्मिथ्यात्व की सिद्धि उसके लिए केन्द्रीय विषय–वस्तु बनी। इसलिए हम देखते हैं कि शंकरोत्तर अद्वैताचार्यों की सम्पूर्ण तर्कणा–पद्धति वास्तव में जगन्मिथ्यात्व की सिद्धि का ही एक व्यापक तार्किक उपक्रम है और उसी के चारों ओर घूमता है। इन अद्वैताचार्यों में मण्डनमिश्र, श्रीहर्ष, चित्सुखचार्य और मधुसूदन सरस्वती का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। इन सभी ने जगन्मिथ्यात्व की व्याख्या दो दृष्टिकोणों से की है—प्रथम ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से और द्वितीय तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से। जगत्–मिथ्यात्व की ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से व्याख्या करते हुए यह दिखाने का प्रयास किया जाता है कि दृश्यमान् जगत् किस प्रकार ज्ञान में अध्यस्त है तथा तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से अध्यस्त जगत् की मीमांसा करते हुए उसे अनिर्वचनीय सिद्ध किया जाता है। यहाँ अनिर्वचनीयता एक पारिभाषिक पद है जिसका अर्थ 'मिथ्यात्व' होता है। भगवद्पाद शंकर[4] ने अपने अध्यास भाष्य में उपर्युक्त दोनों ही दृष्टियों की एक व्यापक अवधारणात्मक योजना बीज रूप में प्रस्तुत की है। अस्मद्–युष्मद् प्रत्यय रूप से गोचर होने वाले विषयी और विषय की तमःप्रकाशवत् विरुद्धता और तब भी 'यह मैं हूँ और यह मेरा है' जैसे लोक–व्यवहार में दोनों के धर्मों का परस्पर एक दूसरे पर प्रत्ययसिद्ध उपचार ज्ञानमीमांसीय द्वार से वैश्वीय भ्रम अर्थात् अध्यास की तार्किक सम्भावना को उपस्थापित करता है। यह प्रत्ययसिद्ध उपचार सत्य नहीं बल्कि सत्य और अनृत का मिथुन रूप अध्यास मात्र ही हो सकता है। यहाँ विषयी और विषय की विरुद्धता और अध्यास की उपस्थापना को लेकर कुछ आक्षेप भी किये जा सकते हैं लेकिन उसका स्पष्टीकरण हम आगे देने का प्रयास करेंगे। पुनः, भगवद्पाद शंकर भ्रम–विषयक विभिन्न सिद्धान्तों की समीक्षा करते हुए 'अनिर्वचनीयता सर्वस्वम्' में उनका पर्यवसान दिखा कर अध्यस्त के स्वरूप की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तत्त्वमीमांसा प्रस्तुत करते हैं। नव्यवेदान्त के आचार्य चतुष्टय ने उपर्युक्त दोनों ही दृष्टियों की यौक्तिक मीमांसा करते हुए उन्हें उनके तार्किक निष्कर्षों तक पहुँचाया है।

II

यहाँ यह सम्भव नहीं है कि नव्य वेदान्त की अद्वैतपरक तर्कणापद्धति का साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया जाए। इसलिए हम अपनी विवेचना को नव्यवेदान्तियों के 'दृक्-दृश्य-सम्बन्ध-विचार' तक ही सीमित रखेंगे। दृक्-दृश्य-सम्बन्ध-भंग का विचार चित्सुखाचार्य की *तत्त्वप्रदीपिका* और मधुसूदन सरस्वती की *अद्वैतसिद्धि* का एक छोटा लेकिन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रकरण है जो वास्तव में अद्वैत वेदान्त की तत्त्वमीमांसा की 'ज्ञानमीमांसीय मूलाकृति' प्रस्तुत करता है। इसमें भगवद्पाद शंकर के अध्यासभाष्य में बीज रूप से प्रस्तावित दोनों ही दृष्टियों (ज्ञानमीमांसीय और तत्त्वमीमांसीय) का समावेश और उनका तार्किक विश्लेषण करते हुए मूल रूप से 'विषय-विषयिभाव' और 'विषयता' का खण्डन किया गया है। एक दूसरी दृष्टि से चित्सुखाचार्य और मधुसूदन सरस्वती का यह खण्डन जगन्मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए 'दृश्यत्व' को हेतु बना कर इसके लिए एक दार्शनिक आधार निर्मित करता है। जगत् के मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए 'दृश्यत्व हेतु' की उपस्थाना का संकेत सर्वप्रथम भगवद्पाद शंकर ने ही किया है, जहाँ वे कहते हैं कि अनादि, अनन्त, नैसर्गिक मिथ्याज्ञान रूप और कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व आदि का प्रवर्त्तक अध्यास सर्वजन प्रत्यक्ष है (ब्रह्मसूत्र भाष्य, अ. 1, पा. 1, सूत्र 1)। तात्पर्य यह है कि दृश्यमान् जगत् की उपलब्धि विषय-विषयिभाव के आधारभूत ढांचे में ही सम्भव है, लेकिन विषय-विषयिभाव का आधारिक ढाँचा अपने स्वरूप में ही आध्यासिक है। अतएव दृश्यत्व की उपलब्धि आध्यासिक रूप से ही हो सकती है, अनाध्यासिक रूप से नहीं। भगवद्पाद शंकर की इस मौलिक उपस्थापना, कि अनादि अध्यास सर्वजन प्रत्यक्ष है, के प्रति कहा जा सकता है कि अध्यास की सम्पूर्ण जाँच-पड़ताल और कुछ नहीं बल्कि विषय और विषयी के ढांचे में होने वाले अनुभव की प्रागनुभविक शर्तों अथवा हेतुओं का अन्वेषण है। इस तरह भगवद्पाद शंकर वस्तुतः जगत् की प्रागनुभविक आध्यासिकता का प्रस्ताव करते हैं।

प्रकृत प्रसङ्ग में 'दृश्यत्व' का साधारण अर्थ 'ज्ञानविषयता' है और इस अर्थ में दृश्यत्व यावत् ज्ञेयरूप जगत् को व्याप्त करता है। अब यदि दृश्य होने से ही यह जगत् मिथ्या है तो यह बात उन लोगों के लिए एक अनिष्ट प्रसङ्ग को उपस्थापित करती है जो लोग जगत् को दृश्य होने से ही सत्य मानते हैं। इसीलिए न्यायामृतकार ने जगन्मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए 'दृश्यत्व' को हेतु बनाये जाने का प्रबल विरोध किया है। न्यायामृतकार के तर्कों की जटिलता और विस्तार में प्रवेश किये बिना इतना तो कहा जा ही सकता है कि हमारा साधारण अनुभव 'दृश्यत्व' को जगत् की सत्यता का हेतु

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वीकार करता है, क्योंकि 'यह घट है' इस प्रकार के अनुभव में ज्ञान और उसके विषय का सम्बन्ध प्रत्यक्षसिद्ध है। अतः प्रत्यक्ष का अपलाप किये बिना 'दृश्यत्व' को जगन्मिथ्यात्व का हेतु नहीं बनाया जा सकता। नियम यह है कि साध्य के बिना जो हेतु उपपन्न ही न हो उसे ही साध्य का प्रयोजक माना जाता है। परन्तु प्रकृत सन्दर्भ में जगत् को मिथ्या माने बिना भी दृश्यत्व हेतु प्रत्यक्ष बल से उत्पन्न होता है।

वस्तुतः जब अद्वैत वेदान्ती दृश्यत्व को जगन्मिथ्यात्व का हेतु बनाते हैं तो प्रत्यक्ष के अपलाप का प्रश्न ही नहीं उठता है। प्रत्यक्ष का अपलाप सीमित सन्दर्भों में दोषपूर्ण होता है परन्तु प्रत्यक्ष मात्र को प्रागनुभविक रूप से आध्यासिक बताना प्रत्यक्ष का अपलाप नहीं बल्कि एक दूसरी दृष्टि से उसकी प्रतिष्ठा ही है। इसलिए मधुसूदन सरस्वती[5] न्यायामृतकार के विरोध में अपने पक्ष को उपस्थापित करते हुए यह दिखाते हैं कि—जगत् यदि मिथ्या न स्यात्, दृश्यमपि न स्यात्, सत्यस्य दृश्यत्वानुपपत्तेः। यहाँ 'सत्यस्य दृश्यत्वानुपपत्तेः' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जगत् की सत्यता और उसके दृश्यत्व में अन्तर्निहित विरोध को उजागर किये बिना दृश्यत्व को जगन्मिथ्यात्व का प्रयोजक नहीं बनाया जा सकता। इस सन्दर्भ में मधुसूदन सरस्वती और कतिपय अन्य नव्यवेदान्तियों की विशिष्टता इस बात में निहित है कि वे जगत् की सत्यता और उसके दृश्यत्व के मध्य विरोध को आनुभविक धरातल पर उद्घाटित करते हैं जबकि भगवद्पाद शंकर ने इसके लिए अध्यास की अवधारणा द्वारा प्रागनुभविक आधार निर्मित किया है। इस तरह देखा जाए तो नव्यवेदान्तियों का दृक्-दृश्य-सम्बन्ध-भंग एक तरह से जगन्मिथ्यात्व के प्रागनुभविक आध्यासिक आधार का आनुभविक रूप से सत्यापन है।

दृश्यत्व हेतु के आधार पर जगत् की सत्यता प्रतिपादित करने के लिए जो न्यूनतम रूप से अपेक्षित है वह यह कि ज्ञान और ज्ञेय में सम्बन्ध हो और यह सम्बन्ध भी उतना ही सत् हो जितना कि ज्ञान और ज्ञेय। परन्तु मधुसूदन सरस्वती यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि ज्ञेय के साथ सम्बद्ध हुए बिना ज्ञान अपने ज्ञेय का प्रकाशक नहीं हो सकता है। दूसरी ओर ज्ञान और ज्ञेय के सम्बन्ध पर गम्भीरता से विचार करने पर वस्तुतः दोनों का सम्बन्धित होना ही विप्रतिसिद्ध ठहरता है। उदाहरण के लिए ज्ञान को कुछ लोग आत्मा का स्वरूप तो कुछ लोग आत्मा का गुण मानते हैं। अब दोनों ही दृष्टियों से ज्ञान का ज्ञेय विषय के साथ संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध नहीं बन सकता। द्रष्टव्य है कि संयोग सम्बन्ध दो द्रव्यों के बीच होता है और ज्ञान यदि आत्मस्वरूप है तो उसमें गुणवत्ता और क्रियावत्ता नहीं होने से उसे द्रव्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता। पुनः, अद्वैत दृष्टि से आत्मा असंग है, अतः असंग आत्मा का किसी अन्य से संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अतिरिक्त, जो लोग ज्ञान को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आत्मस्वरूप द्रव्य का गुण मानते हैं तो अवश्य ही आत्मा और ज्ञान में समवाय सम्बन्ध मानते हैं किन्तु वे भी ज्ञान का घट आदि ज्ञेय वस्तुओं से समवाय सम्बन्ध नहीं मानते। संयोग और समवाय सम्बन्ध के अतिरिक्त ज्ञान और ज्ञेय के मध्य किसी अन्य प्रकार का वास्तविक सम्बन्ध सम्भव नहीं। ज्ञान–ज्ञेय–सम्बन्ध के सन्दर्भ में यह भी नहीं कहा जा सकता कि इनके मध्य विषय–विषयिभाव सम्बन्ध होता है। वस्तुतः सम्बन्ध वह तत्त्व है जो स्वयं एक हो और दोनों सम्बन्धियों में रहता हो, लेकिन विषय–विषयिभाव सम्बन्ध की अवधारणा भी इस रूप में नहीं की जा सकती। विषय–विषयिभाव में प्रयुक्त सम्बन्ध–वाचक भाव शब्द विषय और विषयी से जुड़कर विषयभाव और विषयिभाव को निष्पन्न करता है। इस तरह विषयभाव का अर्थ होता है विषयत्व और विषयिभाव का विषयित्व। अब विषयत्व वह धर्म है जो विषयमात्र में रहता है, अर्थात् विषयी में नहीं रहता। उसी प्रकार विषयित्व वह धर्म है जो विषयि मात्र में रहता है, अर्थात् विषय में नहीं रहता है। इस प्रकार न तो विषयत्व और न ही विषयित्व को ज्ञान–ज्ञेय–सम्बन्ध का प्रयोजक कहा जा सकता है, क्योंकि वे दो हैं, एक नहीं और एक–एक में ही रहने वाले हैं। यदि इसके विरोध में यह कहा जाए कि विषय–विषयिभाव का अर्थ 'विषयता निरूपित विषयित्व' अथवा 'विषयिता निरूपित विषयत्व' है तो यह भी उचित नहीं। इसमें पहला विकल्प विषयिगत विषय का सम्बन्ध है तो दूसरा विकल्प विषयगत विषयी का सम्बन्ध है। अतः ऐसा होने से वे दो के दो ही बने रहते हैं और उनमें किसी प्रकार का द्विष्ठ नहीं बनता।[6] अवधेय है कि द्विष्ठ के बिना वास्तविक सम्बन्ध की अवधारणा ही नहीं की जा सकती। इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती की उपर्युक्त समीक्षा से आपादित होता है कि सम्बन्ध के यथार्थवादी प्रारूपों और मानदण्डों के अनुसार विषय–विषयी-सम्बन्ध को नहीं समझा जा सकता। अतएव उनके बीच किसी वास्तविक सम्बन्ध की अवधारणा नहीं की जा सकती।

अब यदि विषय और विषयी के मध्य वास्तविक सम्बन्ध की अवधारणा विचारासह्य है फिर भी जगत् की प्रतीति विषय–विषयिभावपूर्वक ही होती है तो इस प्रतीति को अगत्या आध्यासिक ही मानना होगा। परन्तु जगत् की प्रतीति आध्यासिक है, इस बात को प्रतिपादित करने के लिए विषय–विषयिभाव का खण्डन केवल प्रथम चरण है। विषय–विषयिभाव का खण्डन एक ऐसे दार्शनिक आधार को प्रस्तुत करता है कि उस आधार पर व्याख्याओं में थोड़े फेरबदल के साथ न केवल अद्वैतवेदान्त बल्कि माध्यमिक अद्वयवाद और निरालम्बन विज्ञानवाद की ओर भी बढ़ा जा सकता है। पुनः, विषय और विषयी की विरुद्धता की निष्पत्ति दोनों को सापेक्ष और अनिवार्य मानने में भी हो सकती है। अतएव दूसरे चरण में अद्वैत वेदान्त की प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है कि विषय–जगत् की प्रतीति की भी समीक्षा की जाए और यह दिखाया जाए कि विषयता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रूप में दृश्यमान् होने वाला जगत् सत् नहीं बल्कि मिथ्या अर्थात् सदसद् विलक्षण रूप अनिर्वचनीय है। वस्तुतः इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चित्सुखाचार्य और मधुसूदन सरस्वती इत्यादि नव्यवेदान्तियों ने 'दृश्यता' का खण्डन किया है। उनके अनुसार, ज्ञान-निरपेक्ष दृश्य पदार्थ की सिद्धि के लिए उसकी अवधारणा 'विषयता' के रूप में की जा सकती है। परन्तु विडम्बना यह है कि 'विषयता' का भी इस रूप से निरूपण विचारासह्य है। विषयता का स्वरूप अपने आप में क्या है, यह उसके लक्षण द्वारा ही निर्धारित हो सकता है लेकिन विषयता का कोई भी निर्दुष्ट लक्षण वास्तव में सम्भव नहीं। अवधेय है कि विषयता के सत्ता-स्वातन्त्र्य की समीक्षा दूसरे प्रकार से भी की जा सकती है लेकिन उन दिनों नैयायिकों का यह अभिगम कि लक्षण और प्रमाण से ही वस्तुसिद्धि होती है, अपने चरम पर था। अतएव इस प्रसङ्ग में चित्सुखाचार्य और मधुसूदन सरस्वती ने विषयता के सम्भावित लक्षणों का विश्लेषण करते हुए उन्हें विप्रतिसिद्ध बता कर ज्ञान-निरपेक्ष विषयता का निराकरण किया है। यहाँ हम संक्षेप में उसका अनुवाद प्रस्तुत कर तदुपरान्त उसके अद्वैतवादी निहितार्थों को उद्घाटित करने का प्रयास करेंगे।

III

विषयता का एक लक्षण 'ज्ञानजन्य फल की आधारता' के रूप में किया जा सकता है।[7] प्रश्न उठता है कि ज्ञानजन्य फल क्या है—ज्ञातता अथवा व्यवहार? ज्ञातता को फल मानने पर अतीत के पदार्थों में विषयत्व का ही अभाव हो जाएगा। ऐसा इसलिए कि जहाँ अतीत विषयक ज्ञान वर्तमान में हो रहा है वहाँ इस ज्ञान की विषयता अतीत के पदार्थों में तभी होगी जब इस ज्ञान से जन्य 'ज्ञातता' रूपी फल की आधारता उनमें हो। किन्तु जो पदार्थ विद्यमान ही नहीं वह किसी फल का आधार कैसे होगा? पुनः, कोई ज्ञान अपना ज्ञातता रूप फल किसी विषय विशेष में ही उत्पन्न करता है, इसके लिए एक नियामक का होना आवश्यक है। ऐसा नियामक स्वयं ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान को ही ज्ञातता का नियामक मानने पर विषयता आत्मनिष्ठ हो जाएगी। अतः ज्ञातता का नियामक विषय को ही मानना पड़ेगा। परन्तु विषय को ज्ञातता का नियामक मानने पर वही विषयता का भी नियामक हो जाएगा और इस तरह ज्ञानजन्य फल की आधारता के रूप में विषयता की संकल्पना ही व्यर्थ होगी, या फिर विषयता की संकल्पना में ज्ञान-निरपेक्ष विषय पूर्वगृहीत होने से विषयता के इस लक्षण में आत्माश्रय दोष की उपपत्ति होगी। इसके अतिरिक्त, ज्ञानजन्य फल की आधारता का तात्पर्य 'व्यवहार' मानना भी युक्तियुक्त नहीं। यहाँ 'व्यवहार' पद से आकर्षणादि अथवा इच्छादि ही विवक्षित हो सकते हैं। यदि आकर्षणादि को लिया जाए तो आत्मा इत्यादि विभु पदार्थों में यह सम्भव नहीं। अतः विभु पदार्थों में विषयता की अव्याप्ति होगी। पुनः,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिच्छिन्न पदार्थों के सन्दर्भ में आकर्षणादि व्यवहार पर विचार किया जाए तो रजत के ज्ञान की विषयता रजतगत मृत्तिकादि मलों में अतिव्याप्त हो जाएगी, क्योंकि रजत के हिलने–डुलने से रजतगत मृत्तिकादि में भी हिलने–डुलने का व्यवहार होता है। यदि व्यवहार पद से इच्छादि–व्यवहार लिया जाए तो वह भी उचित नहीं, क्योंकि इच्छारूप व्यवहार का आधार तो केवल आत्मा है, अनात्मवर्ग की वस्तुओं में यह आधारता सम्भव ही नहीं है। अतएव 'ज्ञानजन्य फल की आधारता' के रूप में विषयता का लक्षण अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असम्भव जैसे दोषों से युक्त है।

विषयता का दूसरा लक्षण 'ज्ञानजन्य हानोपादान बुद्धि की विषयता' इस रूप में हो सकता है।[8] इस लक्षण का तात्पर्य यह है कि हानोपादान बुद्धि का जो विषय होता है वही विषय उस ज्ञान का भी होता है जिससे हानोपादान बुद्धि जन्य होती है। इस लक्षण को प्रथमदृष्ट्या आत्माश्रय दोष से ग्रसित कहा जा सकता है, क्योंकि यहाँ निरूपणीय है ज्ञान–विषयता और स्वयं ज्ञान–विषयता उस निरूपण के लिए अपेक्षित हो जाती है। वह इस प्रकार की हानोपादान बुद्धि की विषयता का निर्णय होने पर ही उस ज्ञान की विषयता का निश्चय होगा जिस ज्ञान से हानोपादान बुद्धि जन्य है। इस लक्षण में एक अन्य प्रकार की दुरभिसन्धि दृष्टिगत होती है। वह यह कि हानोपादान बुद्धि यदि स्वयं किसी पूर्ववर्ती ज्ञान से जन्य है तो वह किसी उत्तरवर्ती हानोपादान बुद्धि को उत्पन्न करती है अथवा नहीं? यदि नहीं करती है तो हानोपादान बुद्धि की विषयता ही नहीं बनेगी और वे निर्विषयक हो जाएंगे। यदि दूसरा पक्ष माना जाए कि हानोपादान बुद्धि उत्तरवर्ती बुद्धि को उत्पन्न करती है तो उसे उत्तरोत्तर मानना पड़ेगा और इस तरह विषयान्तर के ज्ञान का कभी अवसर ही नहीं आएगा। इस प्रकार के लक्षण को मानने पर अन्ततः सुषुप्ति की सम्भावना को भी अस्वीकार ही करना पड़ेगा।

विषयता का तीसरा लक्षण 'यस्यां संविदि योऽर्थोवभासते स तद् विषयः' इस रूप में भी किया जा सकता है। यह एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है जिसे शालिकनाथ ने प्रस्तुत किया है।[9] इसका सीधा–सीधा तात्पर्य यह है कि ज्ञान में जो अवभासित होता है वही उसका विषय है। परन्तु यहाँ विचारणीय है कि लक्षण में प्रयुक्त 'संविदि' पद, अर्थात् ज्ञान में जो अवभासित होता है—उससे क्या विवक्षित है? नियमतः 'संविदि' पद का प्रयोग इस प्रसङ्ग में चार अर्थों में किया जा सकता है—अधिकरण, विषय, सम्बन्धिमात्र और सति सप्तमी। यदि 'संविदि' पद को अधिकरण अर्थ में लिया जाए तो उसका संविद्रूप अधिकरण होगा। किन्तु यह उचित नहीं क्योंकि घटादि पदार्थ द्रव्य तथा बाह्य हैं और संवित् आन्तरिक तथा गुण है। अतः घट आदि पदार्थों की अधिकरणता संवित् में बन नहीं सकती। यदि 'संविदि' पद से 'विषय' विवक्षित है तो यह सीधे–सीधे आत्माश्रय दोष को उत्पन्न करेगा, क्योंकि प्रकृत में विषयता ही निरूप्यमाण है। इस अर्थ में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'विपरीतरूपापत्ति' का दोष भी दिखाया जा सकता है। अर्थात् संवित् में विषयता और घटादि पदार्थों में विषयिता की प्राप्ति होगी। पुनः, यदि 'संविदि' पद का अर्थ 'सम्बन्धिमात्र' से लिया जाए तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि ज्ञान के जनक होने से चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी सम्बन्धी की कोटि में आती हैं और इस तरह घट-ज्ञान के चक्षुरादि भी विषय होने लग जाएंगे। अन्ततः यदि 'संविदि' पद से सति सप्तमी अर्थ में 'भासमान सम्बन्धी' ऐसा अर्थ लिया जाए तो 'भासमानता', जिसका कि निरूपण किया जा रहा है वही निरूपण से पहले ही पूर्वगृहीत हो जाएगा। इस प्रकार शालिकनाथ द्वारा प्रस्तुत किये गए विषयता के लक्षण को भी निर्दुष्ट लक्षण नहीं कहा जा सकता।

विषयता का एक चौथा लक्षण सौगत दृष्टि से 'ज्ञानगत आकार के सम्पर्क हेतु' के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।[10] अर्थात् ज्ञान में जो सारूप्य उत्पन्न करता है वही उस ज्ञान का विषय होता है। परन्तु विषयता का यह लक्षण भी युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि ज्ञान तथा ज्ञानगत आकार का भेद नहीं होने के कारण ज्ञानोत्पत्ति के सभी हेतुओं, यहाँ तक कि चक्षुरादि में भी, विषयता प्राप्त होगी। पुनः यदि यह कहा जाए कि दृश्यमान् होकर जो आकार-समर्पक होता है वही विषय है, तो यह भी उचित नहीं; क्योंकि दृश्यमानता का ही अभी निरूपण नहीं हो सका है तो 'दृश्यमान् होकर जो आकार-समर्पक हो' यह कथन कैसे किया जा सकता है? इसी प्रकार यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'ज्ञान-कर्मत्व ही विषयत्व है'। ऐसा मानने पर अतीत विषयक ज्ञान और ईश्वर का ज्ञान कर्मकारक जन्य नहीं होने के कारण निर्विषयक हो जाएंगे। आशय यह है कि कर्म वास्तव में एक कारक-विशेष की संज्ञा है जो कारण-विशेष होता है। अतः उपर्युक्त लक्षण उसी विषय पर लागू होगा जो कि अपने ज्ञान का कारण हो। किन्तु अतीतादि-विषय अपने ज्ञान के अव्यवहित पूर्व नहीं होने से कारण नहीं कहे जा सकते। अतएव उपर्युक्त लक्षण की उसमें अतिव्याप्ति होगी। पुनः, ईश्वर का ज्ञान नित्य होने से किसी विषय को ईश्वरीय ज्ञान का जनक नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार ईश्वर के ज्ञान के सन्दर्भ में उपर्युक्त लक्षण अव्याप्त हो जाएगा।

विषयता के एक पाँचवें लक्षण के रूप में कहा जा सकता है कि सम्बन्धान्तर के बिना ही जो पदार्थ जिस ज्ञान का विशेषण है वह पदार्थ उस ज्ञान का विषय और विशेष्य अर्थात् 'ज्ञान' उसका विषयी है।[11] परन्तु इस लक्षण को भी उपयुक्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसे लक्षण का 'मत्समवेतं रूप ज्ञानम्' अर्थात् मुझमें रूपज्ञान है—ऐसे स्थल पर समवाय को लेकर अतिव्याप्ति हो जाएगी। कारण यह कि किसी अन्य सम्बन्ध के बिना ही मत्समवाय और रूपज्ञान के मध्य विशेषण-विशेष्य भाव मानना पड़ेगा। पुनः, मत्समवाय और रूपज्ञान में विषय-विषयिभाव है ही नहीं। अतएव प्रकृत लक्षण को अलक्ष्य को लक्षित करने वाला ही मानना पड़ेगा। मधुसूदन सरस्वती ने इस लक्षण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि सम्बन्धान्तर के बिना ही ज्ञान की अवच्छेदकता को विषयता का लक्षण मानना 'मैं गूंगा हूँ' इस कथन की तरह स्वव्याघातक है।

IV

इस प्रकार नव्यवेदान्ती 'दृक्-दृश्य-सम्बन्ध' की समीक्षा से इस निष्कर्ष की ओर बढ़ने का प्रयास करते हैं कि एक ओर विषय एवं विषयी के मध्य किसी प्रकार के वास्तविक सम्बन्ध की संकल्पना नहीं की जा सकती तो दूसरी ओर ज्ञान-निरपेक्ष विषयता के स्वरूप को भी निर्धारित नहीं किया जा सकता। अतएव विषय-विषयिभाव और तत्पूर्वक विषयता की सम्पूर्ण अवधारणा अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से आध्यासिकता में पर्यवसित हो जाती है।[12] अब यदि विषय-विषयिभाव और विषयता अध्यास-पुरस्सर हैं तो इस बात का प्रतिपादन सुकर हो जाता है कि दृश्यमान् जगत् दृश्य होने से ही मिथ्या है। परन्तु इतने से यह बात पूरे तौर से स्पष्ट नहीं हो जाती कि नव्यवेदान्तियों की उपर्युक्त तर्कणा और युक्ति-विन्यास की संगति अद्वैत वेदान्त की तत्त्वमीमांसा से किस प्रकार बैठती है? द्रष्टव्य है कि नव्यवेदान्तियों ने जिस तरह से विषय-विषयिभाव और विषयता का खण्डन किया है उसी प्रकार विज्ञानवादी बौद्धों ने भी ज्ञान-ज्ञेय-सम्बन्ध पर विचार करते हुए यह घोषणा की है कि 'तस्याश्चार्थान्तरे वेद्ये दुर्घटौ वेद्य-वेदकौ'।[13] अर्थात् ज्ञान से वेद्य यदि ज्ञान से बाहर कोई अर्थान्तर माना जाए तो इस प्रारूप में वेद्य और वेदक दोनों ही दुर्घट हो जाएंगे। अतएव यहाँ इस बात का स्पष्टीकरण आवश्यक हो जाता है कि नव्यवेदान्तियों की एतद्विषयक आलोचना का क्या उत्तर है कि वह कौन सी तार्किक विशिष्टता है जिसके चलते उनकी तत्त्वमीमांसा निरालम्बनवादी विज्ञानवाद की ओर न बढ़ कर केवलाद्वैत के रूप में सामने आती है?

यदि उपर्युक्त प्रश्न के सन्दर्भ में नव्यवेदान्तियों की दृक्-दृश्य-सम्बन्ध समीक्षा की तर्कसंरचना और युक्ति-विन्यास की तत्त्वमीमांसीय उन्मुखता पर विचार करें तो सर्वप्रथम उन्होंने विषय और विषयी में स्वभाव-विरोध दिखा कर यह प्रस्तावित किया है कि दोनों के मध्य किसी प्रकार का वास्तविक सम्बन्ध नहीं हो सकता। परन्तु इस तर्क को और आगे बढ़ाया जाए तो सम्बन्ध मात्र को ही विप्रतिषेधयुक्त बताया जा सकता है। धर्मकीर्ति ने एक श्लोक में इस बात को बहुत अच्छे तरीके से उद्घाटित किया है—'द्वयोरेकाऽभिसम्बन्धात् सम्बन्धो यदि तद्द्वयोः। कः सम्बन्धः अनवस्था च न सम्बन्धमतिस्तथा।।'[14] इस श्लोक में धर्मकीर्ति की युक्तियों का आकार इतना सामान्य है कि वह न केवल दो विरोधी वस्तुओं के सम्बन्ध पर लागू होता है बल्कि दो या दो से अधिक समसत्ताक स्वतन्त्र वस्तुओं के सम्बन्ध मात्र की अयुक्तता को अपने में समाविष्ट कर लेता है। अतएव यहाँ विचारणीय हो जाता है कि तमः प्रकाशवत् विरुद्ध स्वभाव वाले विषय और विषयी के मध्य सम्बन्ध की अनुपपन्नता बताने वाले तर्क और सम्बन्ध

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मात्र की अनुपपन्नता बताने वाले तर्क की तत्त्वमीमांसीय निष्पत्तियों में क्या अन्तर है? मेरी दृष्टि में दो या दो से अधिक समसत्ताक स्वतन्त्र वस्तुओं में सम्बन्ध मात्र को विप्रतिषेधयुक्त बताने वाले तर्क से वस्तुतः सम्बन्ध की वास्तविकता का ही निराकरण होता है लेकिन उससे सम्बन्ध में भाग लेने वाले सम्बन्धियों की सत्ता अप्रभावित ही रहती है। इसके विपरीत जब विषय और विषयी के मध्य स्वभाव-विरोध को पूर्वगृहीत कर उनके सम्बन्ध को विप्रतिषेधयुक्त बताया जाता है तो उनके बीच के प्रातीतिक सम्बन्ध की अध्यासमूलक व्याख्या जहाँ एक ओर सुकर हो जाती है वहीं दूसरी ओर सम्बन्ध में भाग लेने वाले सम्बन्धियों की भूमिका और तात्त्विक स्थिति भी एक विशेष दृष्टि से प्रभावित होती है। वह इस रूप में कि यदि विषय और विषयी में वास्तविक सम्बन्ध नहीं बल्कि सम्बन्ध का अध्यास होता है तो दोनों सम्बन्धियों में कोई एक ही सत् हो सकता है और जो सत् होगा वही आध्यासिक सम्बन्ध का अधिष्ठान होगा। अब चूँकि विषयी मौलिक रूप से चेतन है और अनुभव की किसी अवस्था में उसके चैतन्य का बाध नहीं होता है इसलिए आध्यासिक सम्बन्ध का अधिष्ठान विषयी ही हो सकता है, विषय नहीं। इस प्रकार नव्यवेदान्तियों द्वारा दृक्-दृश्य में किसी प्रकार के वास्तविक सम्बन्ध की अनुपपन्नता का प्रदर्शन अवान्तर रूप से उनके मध्य आध्यासिक सम्बन्ध की उपस्थापना करता है जिसकी अद्वैत वेदान्त की तत्त्वमीमांसा से सद्यः अन्विति है। वह इस रूप में कि अधिष्ठान विषयी में विषयमात्र अध्यस्त है, अर्थात् अध्यस्त विषयमात्र का उसके अधिष्ठानभूत में ठीक वैसे ही अत्यन्ताभाव है जैसे कि रज्जु में सर्प का अत्यन्ताभाव होता है। इस प्रकार भगवद्पाद शंकर ने अध्यास भाष्य में अध्यास की उपपत्ति बताने के लिए विषय और विषयी की तमःप्रकाशवत् विरुद्धता का जिस रूप में प्रस्ताव किया है उसका तात्पर्य या उसकी तार्किक निष्पत्ति विषय और विषयी की स्वतन्त्र और अनिवार्य सत्ता मानने में नहीं होती है बल्कि इस बात में होती है कि अधिष्ठानभूत विषयी में विषय मात्र अध्यस्त होता है।

यहाँ प्रकृत प्रसङ्ग में अद्वैत वेदान्त और सांख्य दर्शन की स्थिति परस्पर विरोधी होते हुए भी रोचक रूप से तुलनीय है। सांख्य दर्शन पुरुष और प्रकृति को दो परस्पर विरोधी सत्ताओं के रूप में स्वीकार करता है और उनके बीच सम्बन्ध को अज्ञानमूलक मानता है, लेकिन अज्ञान के निराकृत होने पर भी पुरुष और प्रकृति की एक-दूसरे से स्वतन्त्र और अनिवार्य सत्ता अपने आप में होती है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि दो विरुद्ध अथवा विषमसत्ताक वस्तुओं में प्रतीत होने वाले अज्ञानमूलक सम्बन्ध की तात्त्विक परिणति को किस प्रकार समझा जाए? इस प्रश्न के सन्दर्भ में यदि सांख्य दर्शन की स्थिति पर विचार किया जाए तो कहा जा सकता है कि प्रकृति का अस्तित्व भले ही अपने आप में हो लेकिन सांख्य यह भी स्वीकार करता है कि प्रकृति के अस्तित्व की अर्थवत्ता पुरुष के लिए ही है ('संघात परार्थत्वात्', और 'स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः')।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अतः सांख्य दर्शन के लिए यह स्वीकार करना कहाँ तक युक्तिसंगत होगा कि वह पुरुष-निरपेक्ष प्रकृति के अस्तित्व को स्वीकार करे? जब पुरुष और प्रकृति में अज्ञानमूलक सम्बन्ध के चलते ही संसार है तो इस बात को स्वीकार करने में कोई युक्ति नहीं कि विवेकख्याति होने के उपरान्त (जब पुरुष और प्रकृति का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है) भी प्रकृति की सत्ता अक्षुण्ण बनी रहे। यद्यपि पुरुष-बहुत्व की दृष्टि से सांख्य दर्शन के लिए प्रकृति की सत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखना आवश्यक है तथापि जिस पुरुष विशेष को विवेक-ख्याति हो जाती है उसके सन्दर्भ में प्रकृति के अस्तित्व की अक्षुण्णता का कोई औचित्य नहीं है। इस प्रकार सांख्य दर्शन के अन्तर्गत ही इस बात के लिए पर्याप्त अवकाश है कि वह प्रकृति में सत्ता और अर्थवत्ता का क्रमशः निरपेक्ष और सापेक्ष आयाम स्वीकार करे। इसका अर्थ यह होगा कि प्रकृति की सत्ता भले ही पुरुषापेक्षी नहीं है लेकिन प्रकृति की सम्पूर्ण अर्थवत्ता पुरुषापेक्षी ही है और यह अर्थवत्ता तभी तक बनी रहती है जब तक पुरुष का अज्ञान बना रहता है।

इसी प्रकार अद्वैत वेदान्त के समानान्तर बौद्ध विज्ञानवादियों द्वारा विषय-विषयिभाव की समीक्षा में निहित तार्किक अभिप्राय यह है कि विषयी अपने से बाहर किसी विषयान्तर की अवगति में संचरित नहीं हो सकता। कारण यह कि जिसे हम विषयी कहते हैं वह विज्ञान की एक स्वसंवित् अवस्था है और स्वसंवित् विज्ञान की स्वरूप में ही अवगति होती है, विषय में नहीं (स्वरूपस्य स्वतोगतिः)। विषयी अपना अतिक्रमण कर अपने से बाहर किसी बाह्य विषय को नहीं जान सकता। अतः विषय-विषयिभाव स्वयं विज्ञान के अन्तर्गत घटित होता है, विज्ञान से बाह्य नहीं। आन्तर विषयी और बाह्य विषय की धारणा उपचार मात्र है। वस्तुतः आन्तर रूप से ज्ञेय का ही बाह्य विषय के रूप में आभास होता है। परन्तु जब प्रश्न उठता है कि स्वसंवित् विज्ञान के अन्तर्गत विषयता के बीज किस तरह आक्षिप्त होते हैं तो बौद्ध विज्ञानवादी इसकी व्याख्या अनादि वासना के आधार पर करते हैं। इस प्रकार बौद्ध विज्ञानवादी भी विषय-विषयिभाव को अविद्यामूलक ही मानते हैं और अविद्यामूलक विषय-विषयिभाव में सत्ता का प्रतिमान विषयी की उस अवस्था में देखते हैं जो विषयता के आक्षेप से सर्वथा मुक्त हो।

अब, नव्यवेदान्तियों की दृक्-दृश्य-सम्बन्ध की समीक्षा का दूसरा पहलू 'विषयता' है। इसके अन्तर्गत उन्होंने ज्ञान-निरपेक्ष विषयता के विभिन्न लक्षणों का खण्डन किया है। प्रश्न उठता है कि नव्यवेदान्ती इस खण्डन से आख़िर क्या आपादित करना चाहते हैं और वह किस प्रकार उनकी तत्तवमीमांसा से तार्किक अन्विति रखता है? द्रष्टव्य है कि लक्षण-खण्डन से यदि कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता तो लक्षण-निरूपण को भी प्रयोजनहीन ही मानना पड़ेगा। परन्तु लक्षण-निरूपण से यदि वस्तुसिद्धि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः) होती है तो लक्षण–खण्डन से वस्तु–स्वरूप का बाध भी मानना होगा।[15] अब लक्षण किसी वस्तु के अनुभव का वह सामान्य आकार है जो लक्ष्यभूत वस्तु में रहता है, और जब उस लक्षण में अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा आत्माश्रयादि दोष दिखा कर उसका खण्डन कर दिया जाता है तो वस्तु के उस सामान्य आकार के अनुभव का एक तरह से बाध हो जाता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर लक्षण–लक्षणान्तर विकल्पों के खण्डन की अन्तिम परिणति अनिर्वचनीयता में होती है। इस रूप में अनिर्वचनीयता निरुक्ति–विरह मात्र नहीं बल्कि नव्यवेदान्तियों की परिभाषा में 'ज्ञान बाध्यत्व' ही अनिर्वचनीयता है। ऐसी अनिर्वचनीयता हमें दृष्टान्त रूप से भ्रम के उदाहरण में प्राप्त होती है। भ्रम–स्थल में पूर्ववर्ती अनुभव का उत्तरवर्ती अनुभव से बाध हो जाता है, इसलिए उसे सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय कहा जाता है। अब चूँकि भ्रम एक वैयक्तिक अनुभव है और हमारा जागतिक अनुभव सार्वजनीन होने से ऐसा नहीं है अतः भ्रम की विषयता का बाध जैसे अनुभव में आता है वैसे ही जगत् की विषयता का बाध अनुभव में नहीं आ सकता। यावत् जागतिक अनुभव का बाध यदि ब्रह्मज्ञान से होता भी है तो प्रकृत प्रसङ्ग के लिए वह उपादेय नहीं। इसीलिए नव्यवेदान्ती ज्ञान–निरपेक्ष विषयता के लक्षणों का निरसन कर वास्तव में दृश्य जगत् के ज्ञान–बाध्यत्व की सम्भावना को ही युक्तिमत् रूप से प्रस्तावित करते हैं। अतएव कहा जा सकता है कि विषयता के लक्षणमुखेन खण्डन के पीछे नव्यवेदान्तियों का तार्किक अभिप्राय जगत् के मिथ्यात्व अर्थात् उसके सदसद्भिन्न अनिर्वचनीय स्वरूप को उद्घाटित करना रहा है। नव्यवेदान्तियों का लक्षणोच्छेदी अभियान अपनी इसी विशिष्टता, अर्थात् अनिर्वचनीयतामूलक, होने से माध्यमिक शून्यवाद और योगाचार विज्ञानवाद से भिन्न प्रकार के दार्शनिक उपक्रम के रूप में सामने आता है।

V

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में प्रमाण, लक्षण और तर्क का प्रयोग जिस तरह से स्वपक्ष–स्थापन और परपक्ष–खण्डन के लिए हुआ है उसका कोई सर्वतन्त्र स्वतन्त्र स्वरूप नहीं है। एक ही प्रकार के मिलते–जुलते तर्क और युक्तियों के प्रयोग विभिन्न दर्शनों में भिन्न–भिन्न प्रकार की तत्त्वमीमांसीय दृष्टियों से प्रेरित प्रतीत होते हैं। यह प्रवृत्ति इस बात को सिद्ध करती है कि भारतीय दर्शनों की तर्कणा–पद्धति अपनी–अपनी कुछ प्रागपेक्षाओं के साथ अग्रसर होती है और उत्तरोत्तर उससे अधिकाधिक अनुकूलन स्थापित करने में अपने को चरितार्थ करती है। अद्वैत वेदान्त की तर्कणा–पद्धति 'एकमेवाद्वितीयम्' और 'नेहनानास्ति किंचन' की प्रागपेक्षा में ज्ञानमीमांसीय धरातल पर अपने दार्शनिक चिन्तन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की मूलाकृति को इस रूप में प्रस्तुत करती है कि दृक् अर्थात् विषयी में दृश्य अर्थात् विषय-जगत् अध्यस्त है। कतिपय अन्य दर्शन भी विषय-विषयी सम्बन्ध को अज्ञानमूलक मानते हैं लेकिन उस अज्ञानमूलक सम्बन्ध की व्याख्या आध्यासिक रूप से नहीं करते हैं। अद्वैत वेदान्त की विशेषता है कि वह अज्ञान को अध्यास के अर्थ में समझता है। इस प्रकार 'अध्यास' का विवेचन अद्वैत वेदान्त के लिए मूलभूत प्रश्न बनकर सामने आता है जो 'अध्यस्त' और 'अधिष्ठान' के विश्लेषण से प्रारम्भ होकर 'अनात्म-मीमांसा' और 'आत्म-मीमांसा' में पर्यवसित हो जाता है। अनात्म-मीमांसा से परावृत होकर तर्कबुद्धि आत्म-मीमांसा की ओर उन्मुख होती है। यही उन्मुखीकरण पराङ्मुख तर्कबुद्धि की इयत्ता है, क्योंकि आत्मा वस्तुतः अपरोक्षानुभूति का विषय है।

सन्दर्भ एवं पाद-टिप्पणी

1. प्रो. दयाकृष्ण ने अपने एक चर्चित आलेख 'वेदान्त : डज़ इट रियली मीन एनीथिंग' में एक गम्भीर प्रश्न उठाया था कि "कुछ सिद्धान्तों अथवा ग्रन्थों के समुच्चय विशेष की पहचान करते हुए यह परिभाषित करना असम्भव सा है कि 'वेदान्त' शब्द का क्या अर्थ है?" वस्तुतः दयाकृष्ण जी की व्याकुलता इस बात को लेकर थी कि वेदान्त नाम से, अथवा यह कहें कि वेदान्त दर्शन की परम्परा में, दार्शनिक विचारों और उनके प्रतिपादक ग्रन्थों में इतना मत-मतान्तर प्राप्त होता है कि वेदान्त नाम से प्रचलित दार्शनिक चिन्तन की परम्परा का कोई 'सामान्य लक्षण' निर्धारित करना कठिन हो जाता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। वेदान्त का सामान्य लक्षण इस रूप में निर्धारित किया जा सकता है कि 'ब्रह्मवाद' का विभिन्न रूपों में प्रतिपादन करने वाली दार्शनिक परम्परा ही 'वेदान्त' है, क्योंकि इस परम्परा के दार्शनिक सम्प्रदाय 'एकमेवाद्वितीयम्' रूप ब्रह्म तत्त्व को अनिवार्य रूप से स्वीकार करते हैं। द्रष्टव्य है कि ब्रह्म तथा ब्रह्म से उत्पन्न, उसमें स्थित तथा लीन होने वाले जड़-जीवात्मक जगत् के परस्पर सम्बन्धों की व्याख्या में आधारभूत उपनिषद् वचनों में भेद के कारण वेदान्त दर्शन के अनेक सम्प्रदायों का उद्भव हुआ है। वेदान्त-परम्परा के दार्शनिक सम्प्रदायों का अनुक्तसिद्ध रूप में ब्रह्मवादी होते हुए उनके पार्थक्य को श्याम मनोहर गोस्वामी जी ने 'वादावली' नामक ग्रन्थ के सम्पादकीय प्रस्तावना में निम्न प्रकार से निरूपित किया है—(1) केवलाद्वैत मत में 'एकमेवाद्वितीयम्' के साथ 'इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते' अथवा 'नेहनानास्ति किंचन' का योग दिखा कर सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद के अत्यन्ताभाव से उपलक्षित पारमार्थिक अद्वैत और मायोपाधिक व्यावहारिक, प्रातिभासिक भेद पुरस्सर द्वैत का प्रतिपादन किया गया है। (2) औपाधिक द्वैताद्वैत मत में 'एकमेवाद्वितीयम्' के साथ 'परास्य शक्तिर्विश्वैव श्रूयते' का योग दिखा कर कारण रूप ब्रह्म का अद्वैत और शक्ति कार्य रूप भूतों का द्वैत प्रतिपादित हुआ है। (3) विशिष्टाद्वैत में 'एकमेवाद्वितीयम्' के साथ 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्...अन्तरो यममति' का योग दिखा कर विशिष्ट का अद्वैत और विशेषण-विशेष्यों तथा विशेषणों का द्वैत प्रतिपादित किया गया है। (4) द्वैत मत में 'एकमेवाद्वितीयम्' के साथ 'ज्ञाज्ञौ द्वौ अजौ ईशानीशौ' का योग दिखा कर स्वगत सजातीय द्वैत-राहित्य और पारमार्थिक विजातीय द्वैत का प्रतिपादन किया गया है। (5) विशेषाद्वैत मत में 'एकमेवाद्वितीयम्' के साथ 'स यथा नद्यः...समुद्रं प्राप्य अस्तंगच्छन्ति भिद्यन्ते तासां नामरूपे समुद्र इत्येव' का योग दिखा कर यावत् स्वाभाविक भेद

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भिन्नों का ब्रह्मान्तर्लय योग्य अद्वैत तथा अनादिसान्त पारमार्थिक द्वैत का प्रतिपादन किया गया है। (6) अविभागाद्वैत मत में 'एकमेवाद्वितीयम्' के साथ 'यथाग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिंगाः व्युच्चरन्ति' का योग दिखा कर आकाशोपम नित्य अविकारी रूप अधिष्ठान में अविभागरूप अद्वैत तथा सृष्टि में अनित्य नामरूप विभाजनपरक द्वैत का प्रतिपादन किया गया है। (7) शुद्धाद्वैत मत में 'एकमेवाद्वितीयम्' के साथ 'तद् ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेय' का योग दिखा कर ब्रह्म-स्वरूप स्वाभाविक अद्वैत और नाम-रूप-कर्म जीवनानात्वरूप ऐच्छिक द्वैत का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वेदान्त परम्परा के दार्शनिक सम्प्रदायों के बीच ब्राह्मिक अद्वैत को लेकर मतभेद उतने अधिक नहीं हैं जितने कि उस ब्रह्म के साथ जड़-जीवात्मक जगत् के सम्बन्ध को लेकर हैं। अतः वेदान्त-परम्परा का सामान्य लक्षण उसका ब्रह्मवादी होना ही है, भले ही उसके अन्तर्गत दार्शनिक सम्प्रदाय अपने-अपने ब्रह्मवाद को अलग-अलग विशेषणों से क्यों न युक्त करें।

2. ब्रह्मसूत्र, 2/1/11, तर्काप्रतिष्ठानात्।

3. विवेकचूडामणि, 59-60
वीणया रूपसौन्दर्यं तन्त्रीवादन सौष्ठवम्। प्रजारंजन मात्रं तन्न साम्राज्य कल्पते।।
वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यान कौशलम्। वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये।।

4. ब्रह्मसूत्र — शांकर भाष्य,अ. 1, पाद 1
युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः। इत्यतः अस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः, तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणां च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम्। तथाप्यन्योऽन्यस्मिन्नन्योऽन्यात्मकतामन्योऽन्यधर्मांश्च अध्ययस्य इतरेतराविवेकेन अत्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोः मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहमिदम्, ममेदम् इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।

5. न्यायामृत अद्वैतसिद्धि, स्वामी योगीन्द्रानन्द संस्करण, षड्दर्शन प्रकाशन संस्थान, वाराणसी, पृ. 295

6. वही, पृ. 296
न च विषयविषयिभावः सः तस्य विषयत्वविषयित्वरूपस्य एकैकमात्रनिष्ठत्वेन द्विष्ठसम्बन्धात्मकत्वासम्भवात्।

7. तत्त्वप्रदीपिका, भाषानुवाद संवलिता, स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शन प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 76
तथा हि न तावज्ज्ञानजन्यफलाधारत्वं विषयत्वं, विषयनिष्ठफलजनकत्वं च विषयित्वमिति युक्तंः विकल्पासहत्वात्।

8. वही, पृ. 77
अथ ज्ञानप्रतिबद्धहानादिलक्षणज्ञानगोचरत्वं तद्योग्यत्वं वा विषयत्वम्, न ज्ञानगोचरत्वस्यैव निरूप्यमाणत्वात्।

9. प्रकरणपंचिका, 23
अत्र ब्रूमो य एवार्थो यस्यां संविदि भासते।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वेद्यः स एव नान्यद्धि विद्याद् वेद्यस्य लक्षणम्।।

10. तत्त्वप्रदीपिका, वही, पृ. 79
ज्ञानाकारर्पको हेतुर्विषय इति चेत् न, ज्ञानतदाकारयोर्भेदाभावेन सर्वेषामपि ज्ञानहेतुना तदाकार समर्पकतया विषयत्वप्रसंगात्।

11. वही, पृ. 79
सम्बन्धान्तरमन्तरेण ज्ञानस्य यद्विशेषणं स तद्विषयो, विशेष्यं च तेन विषयीति चेत् न, मत्संवेदं रूपज्ञानमित्यत्र व्यभिचारात्।

12. न्यायामृत अद्वैतसिद्धि — स्वामी योगीन्द्रानन्द संस्करण, पृ. 309
तस्मात्सत्यत्वे सम्बन्धानुपपत्तेराध्यासिक एव दृग्दृश्योः सम्बन्ध इति।

13. प्रमाणवार्त्तिक, प्रत्यक्ष परिच्छेद, 330
तस्याश्चार्थान्तरे वेद्ये दुर्घटौ वेद्यवेदकौ। अवेद्यवेदकाकारः यथा भ्रान्तैर्निरीक्ष्यते।।

14. धर्मकीर्ति, सम्बन्धपरीक्षा 4.

15. शंकरचैतन्य भारती, दर्शन सर्वस्वम्, सम्पा. डॉ. सुधांशु शेखर शास्त्री, पृ. 457
ननुलक्षणखण्डनेनैतेन किं कृतं स्यात्? एवं तर्हि तन्निरूपणेनापि न किंचित् स्यात्, यदि तेन वस्तुसाधनं तर्ह्येतेन तद्बाधनमपि स्यात्।

❑

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यथार्थवाद की विधाएँ : न्यायवैशेषिक दर्शन का यथार्थवाद

नारायण शास्त्री द्राविड़

यदि 'यथार्थवाद' इस पारिभाषिक दार्शनिक संज्ञा का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाए तो यह संज्ञा योगाचार बौद्ध सम्प्रदाय के दर्शन को छोड़कर सभी आस्तिक तथा जैन जैसे नास्तिक दर्शनों पर लागू की जा सकती है। यदि इस व्यापक अर्थ को मुख्य वस्तुमात्रगत विशेषताओं के रूप में प्रस्तुत किया जाए तो वह दार्शनिकों को अमान्य नहीं होगा। ये विशेषताएँ, पदार्थों का किसी न किसी रूप में एक दूसरे से भिन्न होना और उनका उनके प्रातिस्विक या अन्य प्रकार के ज्ञानों से भिन्न होना, इन दो धर्मों के रूप में उपवर्णित की जा सकती हैं। ज्ञान का भी ज्ञान-विषय पदार्थों में समावेश सम्भव होने से उसे भी उसके ज्ञानों से पृथक् मानने में किसी भारतीय यथार्थवादी को आपत्ति नहीं होगी। इस कथन पर अद्वैत वेदान्त तथा साँख्य की ओर से आक्षेप किया जा सकता है, क्योंकि अद्वैत वेदान्त न पदार्थों के भेद या द्वैत को न उनकी ज्ञान-भिन्नता या चिद्भिन्नता को परमार्थतः स्वीकार करता है। साँख्य भी विश्व के घटक प्रकृति, महत्, अहंकार आदि पदार्थों या तत्त्वों को एक-दूसरे से पूर्णतया भिन्न नहीं मानता। इस आक्षेप का एक सामान्य उत्तर ही हम यहाँ देंगे। वह यह है कि अद्वैत वेदान्त की पारमार्थिक वैचारिक भूमिका जैसी भी हो, उसकी एक व्यावहारिक वैचारिक भूमिका भी है जिसके अनुसार सामान्यानुभव-विषय पदार्थ सत् और एक दूसरे से भिन्न भी होते हैं। यह बात अलग है कि इस भिन्नता को यह दर्शन न्याय-वैशेषिकादि के समान जाति, समवाय आदि की सहायता से समर्थनीय नहीं मानता। अद्वैत पदार्थगत भिन्नता का अपने ही ढंग से उपपादन करता है जिसकी यहाँ चर्चा अप्रस्तुत है। अद्वैत के समान ही साँख्य भी अपने ही स्वतन्त्र तरीके से उसके पुरस्कृत मूल तत्त्वों या पदार्थों के भेद का समर्थन करता है। किसी न किसी रूप में उपर्युक्त दोनों भेदों का स्वीकार उक्त भारतीय दर्शनों में व्यापक यथार्थवादित्व का गमक माना जा सकता है। योगाचार बौद्ध दर्शन का विज्ञानवाद भारतीय दर्शनों में यथार्थवाद को अस्वीकार करने वाला एकमात्र सम्प्रदाय है, अन्य कोई भारतीय दर्शन यथार्थवाद के उक्त व्यापक लक्षण से बहिष्कृत नहीं हो सकता। विज्ञानवाद विज्ञान-बाह्य पदार्थों की विज्ञानातिरिक्त रूप में स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करता और पदार्थों की प्रातिस्विक और पारस्परिक सत्ताओं को भी वह विज्ञान की या

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विभिन्न मौलिक वासनाओं की सत्ता में ही विलीन करना तर्कसंगत मानता है। इस प्रकार भारतीय दर्शनों में विज्ञानवाद में यथार्थवाद का विरोधी एक ही सम्प्रदाय है जबकि पश्चिम में विज्ञानवाद के अनेक सम्प्रदाय समय–समय पर पनपते रहे हैं। यहाँ हम माध्यमिक बौद्धों की यथार्थवाद–विरोधी विचार–सरणी का उल्लेख नहीं करेंगे, क्योंकि इन दार्शनिकों के विचार में कोई भी विचार–सरणी ग्राह्य नहीं होगी।

इस कुछ विस्तृत पूर्वपीठिका के बाद हम न्याय–वैशेषिक दर्शन के यथार्थवाद के विवेचन की ओर अग्रसर होते हैं। अन्य सभी दर्शनों की यथार्थवादी विधाओं से इस दर्शन की यथार्थवादी विधा विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसका एक कारण यह है कि सामान्य अनुभवों के साथ–साथ सामान्य शब्द–प्रयोगों के आधार पर भी इस दर्शन ने पदार्थों के पारस्परिक तथा ज्ञानमीमांसीय भेद निर्धारित किये हैं। दो एक उदाहरण इस तथ्य के स्पष्टीकरणार्थ लें। एक फूल को देखकर द्रष्टा कहता है, 'यह चमेली का फूल है।' द्रष्टा को फूल का चमेली का होना जो दिखाई पड़ता है उसका इस दर्शन के अनुसार स्पष्टीकरण यह होगा कि 'फूल में चमेली का होना' यह धर्म या जाति–विशेष रूप पदार्थ विद्यमान है। यह विद्यमानता किस प्रकार की है यह बात उक्त वाक्य के अन्तर्गत 'का' इस विभक्ति से सूचित होती है, लेकिन उसके स्वरूप का फूल के द्रष्टा को भी ज्ञान नहीं होता। इस विद्यमानता या सम्बन्ध विशेष को यह दर्शन 'समवाय' की संज्ञा देकर उसे अन्य 'संयोग' जैसे सर्वपरिचित भौतिक सम्बन्धों से अलगाता है। यह सम्बन्ध फूल और चमेली को नित्य सम्बद्ध कर देता है जबकि संयोग जैसे सम्बन्ध अपने सम्बन्धियों को आकस्मिक रूप से ही सम्बद्ध करते हैं। अब एक अन्य सामान्य शब्द–प्रयोग का उदाहरण लें। एक नीले रंग के फूल को देखकर देखने वाला कहता है 'यह नीला फूल है'। इस वर्णनात्मक शब्द प्रयोग में 'नीला रंग और फूल एक या अभिन्न हैं' ऐसा कहा गया है। क्या यह बात सही है? यदि नीला रंग फूल ही हो तो उसका 'नीला रंग' इन शब्दों से 'यह नीला रंग है' इस वाक्य में निर्देश नहीं किया जाता। लेकिन इस अर्थ-भेद को सामान्य प्रयोगकर्त्ता नहीं समझता। उसकी दृष्टि में भेद और अभेद पूर्ण विरोधी नहीं होते। नीला रंग एक गुण होते हुए भी उसके आधारभूत फूल के साथ एक–रूप भी हो सकता है, ऐसा मानने में उसे आपत्ति नहीं होती। किन्तु न्याय–वैशेषिक दर्शन भिन्न और अभिन्न को, गुण और द्रव्य को, द्रव्य और उसके धर्मों को शब्द–प्रयोगों के और अनुभवों के भी आधार पर एक दूसरे से बिल्कुल अलग समझता है और भेद–अभेद को परस्पर अत्यन्त विरोधी मानता है। यह इस दर्शन के यथार्थवाद की अनन्यसाधारण विशेषता है। इस विशेषता से सम्बद्ध ही दूसरी विशेषता जो इस दर्शन ने पुरस्कृत की है वह यह मान्यता है कि भिन्न पदार्थों में विविध सम्बन्ध या साधर्म्य होते और हो सकते हैं। इसी प्रकार विरोधी पदार्थों में भी विविध सम्बन्ध घटित हो सकते हैं। उदाहरण के रूप में एक भाव पदार्थ और एक अभाव पदार्थ को लें। 'यहाँ मेरी पुस्तक नहीं है' इस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कथन के द्वारा पुस्तक के न होने या अभाव का बोध होता है। यहाँ पुस्तक और उसका अभाव एक-दूसरे से पूर्ण विरोधी हैं। तथापि उनके बीच सम्बन्ध मानना पड़ता है क्योंकि पुस्तक का न होना किसी अन्य पदार्थ का न होना नहीं है। इस भावाभाव सम्बन्ध को इस दर्शन में 'प्रतियोगित्व' की संज्ञा दी गई है। प्रतियोगिता का अर्थ है विरोधिता। अतः विरोधिता को भी एक सम्बन्ध मानना पड़ता है। इस सन्दर्भ में यह बात विशेषतया ध्यातव्य है कि न्याय-वैशेषिक किसी भी सम्बन्ध को इतना आन्तरिक नहीं मानते जिससे सम्बन्धियों की पारस्परिक भिन्नता ही समाप्त हो जाए। जैसे पूर्वोक्त चमेली के फूल के उदाहरण में फूल के साथ उसके धर्म का जो समवाय सम्बन्ध बताया गया है वह इन दोनों को नित्य सम्बद्ध करते हुए भी उनकी भिन्नता को बिल्कुल बाधा नहीं पहुँचाता। कुछ पश्चिमी दार्शनिकों ने कुछ सम्बन्धों की आन्तरिकता के आधार पर सम्बन्धियों की अभिन्नता सिद्ध करने का प्रयास किया है।

मूल पदार्थ क्या और कितने हैं इस सम्बन्ध में यहाँ चर्चा अप्रस्तुत होने से इस सम्बन्ध में वैशेषिक सम्मत पदार्थ-विभाग को और पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य को पूर्वगृहीत मान कर ही हम अब पदार्थों और उनके ज्ञान के सम्बन्ध का विचार करेंगे। यथार्थवाद की प्रारम्भ में बतायी दो विशेषताओं में से दूसरी विशेषता पदार्थों का उनके विभिन्न प्रकार के ज्ञानों से भिन्न होना है जिसका अब विस्तार से विचार आवश्यक है। इस दर्शन में पदार्थ मात्र की ज्ञान को लेकर ज्ञेय, प्रमेय, अभिधेय ये आवश्यक संज्ञाएँ हैं। अर्थात् सभी पदार्थ इस दर्शन के मतानुसार ज्ञेय, प्रमेय, अभिधेय होते ही हैं। इन शब्दों से दो अलग-अलग अर्थ व्यक्त होते हैं। एक अर्थ ज्ञान-विषयं, प्रमाविषय, अभिधा-विषय यह है और दूसरा अर्थ ज्ञान-विषयता-योग्य, प्रमाविषयता-योग्य, अभिधाविषयता-योग्य यह है। इन दो अर्थों का भेद स्पष्ट है। जो पदार्थ ज्ञान-विषय नहीं है, याने जो ज्ञात नहीं हुआ है, वह ज्ञान-विषय हो सकता है। अनेकानेक ऐसे पदार्थ हैं जो अब तक ज्ञात नहीं हुए हैं लेकिन उनके अस्तित्व की सम्भावना है। जैसे आकाशगंगा में अगणित तारिकाएँ या विश्व हैं जिनके सामूहिक अस्तित्व को ही हम जानते हैं वैयक्तिक अस्तित्व को नहीं। ये विश्व ज्ञान-विषय न होने पर भी ज्ञेय माने जाते हैं और इसी विश्वास के आधार पर इनकी खोज की जाती है। यदि कुछ पदार्थों को स्वभावतः अज्ञेय मान लिया जाए तो न विज्ञान में, न दर्शन में उनके सम्बन्ध में विचार किया जाएगा। इस पर से एक पूर्वाभ्युपगम के रूप में पदार्थ मात्र के ज्ञात और अज्ञात दोनों प्रकार के ज्ञेयत्व की वैज्ञानिक एवं दार्शनिक अनुसंधान के लिए आवश्यकता सिद्ध होती है। न्याय-वैशेषिक मुख्यतया प्रमाण-विचारक दर्शन होने से उसके लिए यह पूर्वाभ्युपगम अत्यावश्यक है। प्रमाणों का स्वरूप, संख्या, प्रामाण्य आदि निश्चित कर लिये जाने पर प्रत्येक पदार्थ को प्रमाणगम्य मानना ही होगा। यह बात अलग है कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किसी सम्भाव्य पदार्थ के (ऊपर बताये उदाहरण वाले) ज्ञान के उपयुक्त साधन आज उपलब्ध न होने से वे ज्ञात की परिधि में अन्तर्भूत नहीं हो पाये हैं।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है जिस की अनेक विद्वद्गोष्ठियों में चर्चा होती रही है। वह प्रश्न यह है कि यदि पदार्थ मात्र ज्ञेय हैं और ज्ञेयता उनका अनिवार्य सामान्य धर्म है जिसके बिना वे रह नहीं सकते तो इस मत को एक प्रकार का विज्ञानवाद ही मान लेना होगा। बौद्धों का विज्ञानवाद पदार्थों को विज्ञानगत विभिन्न आकार मानता है। उक्त मत के अनुसार, पदार्थ विज्ञान के आकार न होकर उसके साथ अनिवार्य विषय-विषयि-भाव सम्बन्ध से सम्बद्ध होकर एक प्रकार से उसके अङ्ग ही हो जाते हैं। इसे एक अन्य प्रकार का विज्ञानवाद ही मान लिया जा सकता है। लगभग ऐसा ही सिद्धान्त आधुनिक पश्चिमी दार्शनिक बर्कले ने अपने 'एस्से एस्त पर्सिपी' इस सद्विषयक धारणा के रूप में प्रतिपादित किया था। इस धारणा का मन्तव्य यह है कि प्रत्येक वस्तु की सत्ता उसकी प्रत्यक्ष-विषयता रूप या ज्ञान-विषयता रूप है। अर्थात् प्रत्यक्ष-विषय या ज्ञान-विषय होना और होते रहना यह वस्तु-सत्ता का स्वरूप है। इस पर से बर्कले ने विश्व के सर्वतोद्रष्टा के रूप में ईश्वर के अस्तित्व का अनुमान किया है। यदि कोई द्रष्टा न हो तो दृश्य या ज्ञेय रूप में कोई वस्तु विद्यमान नहीं होगी। इतना ही नहीं, एक अदृश्य तथा अज्ञेय रूप में ऐसी अवस्था में कोई वस्तु विद्यमान नहीं हो सकती, ऐसा बर्कले का मन्तव्य प्रतीत होता है। वस्तुओं की सत्ता उनकी ज्ञेयता का रूप है या इस ज्ञेयता से निर्धारित होती है।

अब न्याय-वैशेषिक दर्शन के ज्ञेयता-विचार की बर्कले के ज्ञेयता-विचार के साथ तुलना कर देखें। यह दर्शन पदार्थ मात्र को ज्ञान-विषय या ज्ञान-विषयता-योग्य आवश्यक रूप से मानता है। लेकिन पदार्थों की सत्ता को वह ज्ञेयता से निर्धारित नहीं मानता। यह सत्ता पदार्थों के प्रातिस्विक या सामान्य धर्मों से ही निर्धारित होती है। उनका ज्ञान-विषय होना एक तरह स्वाभाविक है और एक तरह आकस्मिक भी। स्वाभाविक इसलिए कि प्रत्येक पदार्थ सदैव किसी न किसी ज्ञान का विषय बना ही रहता है। यदि कोई पदार्थ उत्पन्न होकर नष्ट होने तक किसी व्यक्ति या प्राणी के किसी भी प्रकार के ज्ञान की कक्षा में नहीं आया तो वह ईश्वर के ज्ञान का तो विषय हर हालत में होगा ही। अतः ज्ञेयता से पूर्ण छुटकारा किसी भी पदार्थ को कभी नहीं मिल सकता।

पदार्थों की ज्ञेयता आकस्मिक इसलिए है कि किसी एक ज्ञान का या कुछ ज्ञानों का ही कोई भी पदार्थ सदैव विषय नहीं बना रहता। भिन्न-भिन्न ज्ञानों के भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में विषय होकर तदनन्तर इन ज्ञानों के नष्ट हो जाने पर इनके विषयों की विषयता भी नष्ट हो जाती है। कोई भी ज्ञान-सम्बद्ध विषयता किसी भी पदार्थ के लिए आबश्यक न होते हुए भी कोई न कोई ज्ञान-विषयता पदार्थ मात्र में सदैव विद्यमान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रहता ही है। पदार्थों को पूर्णतया अज्ञेय मानना प्रमाण-प्रामाण्य सिद्धान्त का विघातक है। इस सारे स्पष्टीकरण का तात्पर्य यह है कि ज्ञेयता पदार्थों की सत्ता से आवश्यक रूप से सहकृत है, लेकिन न वह उससे अभिन्न है न उसकी निर्धारक है। यह कथन कुछ अटपटा लग सकता है, क्योंकि अनिवार्यता-सम्बन्ध निर्धाय-निर्धारक भाव के बिना प्रायः कहीं पाया नहीं जाता। लेकिन ऊपर किये गए विवेचन के अनुसार पदार्थों की सतत उत्पाद-क्रियाशील विभिन्न ज्ञेयताओं का विचार किया जाए तो उक्त कथन का मर्म स्पष्ट हो जाएगा। पदार्थों की इन विभिन्न ज्ञेयताओं के लिए 'ज्ञेयता' यह सामान्य शब्द यहाँ प्रयुक्त हुआ है।

ज्ञान और उसके विषय इनका जो विषय-विषयिभाव रूप सम्बन्ध है वह पदार्थों के ज्ञेयता की अनिवार्यता को खण्डित कर देता है। किसी ज्ञान का विषय होना किसी पदार्थ के लिए आवश्यक नहीं है लेकिन ज्ञान मात्र सविषय होकर ही अस्तित्ववान् होते हैं। निर्विषय ज्ञान हो ही नहीं सकता और प्रत्येक ज्ञान का अपना ही एक विषय होता है जिसके साथ यह विषय-विषयि-भाव सम्बन्ध से अनिवार्यतया जुड़ा रहता है। विषय इस प्रकार किसी भी ज्ञान से जुड़ा नहीं रहता। ज्ञान और उसका विषय इनके सम्बन्ध में अनिवार्यता एकतरफा ही होती है, दोनों की ओर से नहीं रह सकती।

उपर्युक्त अति विस्तृत स्पष्टीकरण इसलिए प्रस्तुत करना पड़ा कि न्याय-वैशेषिक दर्शन को विज्ञानवाद में समाविष्ट करने का प्रो. दयाकृष्ण जैसे विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रयास अपने लेखों द्वारा किया था। इन सब लेखों में जो तर्क उपस्थित किये गए वे सब पदार्थों के ज्ञेयता, प्रमेयता सम्बन्धी विचार पर ही आधारित रहे हैं।

यहाँ एक आक्षेप सम्भव है। विभिन्न पदार्थ स्वगत विभिन्न धर्मों से युक्त होकर ही उनके ज्ञान के विषय हुआ करते हैं। जैसे घट का घटत्वयुक्त एक पदार्थ के रूप में जो विशिष्ट ज्ञान होगा उसका विषय द्रव्यत्वयुक्त घट नहीं होगा। अतः घट ही इस ज्ञान का विषय होने पर भी घट द्रव्यत्व सहित या द्रव्यत्वरूपेण इस ज्ञान का अविषय ही होगा। अब ज्ञान-विषय तथा ज्ञानाविषय किन्तु ज्ञान-विषय-योग्य पदार्थ के साधारण माने गए ज्ञेयत्व रूप धर्म का विचार करें। जैसे एक साधारण धर्म की कल्पना कर न्याय-वैशेषिक दर्शन ने अपने पदार्थ-विभाग को पूर्णता प्रदान करने का प्रयास किया है। इस कल्पित धर्म के अतिरिक्त कोई भी धर्म जो द्रव्य, गुणादि सभी पदार्थों में विद्यमान हो वह कल्पनार्ह नहीं है। अब यह आक्षेप इस यथार्थवाद पर उठाया जा सकता है कि ज्ञेयत्व रूप धर्म से सभी पदार्थ युक्त हैं और वे इस ज्ञेयत्व युक्त पदार्थ के रूप में सदैव ज्ञान-विषय होंगे। ऐसे यदि वे न हों तो वे ज्ञेय नहीं समझे जा सकते। नितान्त अज्ञात पदार्थ भी ज्ञान-विषय-योग्य होने के कारण उक्त ज्ञेयत्व रूप से ज्ञान-विषय होंगे ही। यह ज्ञेयत्वेन पदार्थों की ज्ञान-विषयता या ज्ञेयता है। याने पदार्थों का ज्ञेयत्व स्वयं ज्ञेय है अतः ज्ञेयत्व

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रूप धर्म में भी ज्ञेयत्व है। यह विचित्र स्थिति है जो ज्ञेयत्व, प्रमेयत्वादि को भी पदार्थ धर्म मानने के कारण उत्पन्न होती है। साथ ही एक ही वस्तु को स्वगत एक धर्म के साथ ज्ञात और अन्य धर्म के साथ अज्ञात मानना भी उक्त स्थिति का कारण कहा जा सकता है।

इस आक्षेप का सरल समाधान यह होगा कि विज्ञानवाद के स्वीकार के लिए पदार्थों की किसी भी प्रकार की ज्ञेयता या ज्ञान–विषयता पर्याप्त नहीं है। अपने स्वीय रूप से उनका सदैव एक ही ज्ञान का या किसी न किसी ज्ञान का विषय होना उनके विज्ञानान्तर्भाव के लिए आवश्यक है। ज्ञेयत्व युक्त होकर ज्ञान–विषय होने का सीधा अर्थ ज्ञेय होकर ज्ञान–विषय या ज्ञेय होना यह है। यह बात पुनरुक्ति रूप है जिससे कुछ भी सिद्ध नहीं होता। ईश्वरीय ज्ञान की विषयता ज़रूर विश्व व्यापक है और वह सदैव पदार्थ मात्र में बनी रहती है। लेकिन यह विषयता पदार्थों को ईश्वर–ज्ञान–सम्बद्ध ही बनाती है, उस पर निर्भर या उससे किसी प्रकार निर्धारित नहीं बनाती।

अब स्वयं ज्ञान के सम्बन्ध में विचार करें। ज्ञान भी एक पदार्थ होने से उसे भी ज्ञान–विषय मानना आवश्यक होगा। ऐसा मानने का अर्थ यह हो सकता है कि जब कोई ज्ञान घटित होता है तो उसके साथ या उसके अनन्तर उसका ज्ञान भी घटित होता है। लेकिन यह घटित होना आवश्यक नहीं है। जैसे ज्ञानेतर पदार्थों का ज्ञात होना आवश्यक नहीं है वैसे ही किसी ज्ञान का स्वज्ञान–विषय होना आवश्यक नहीं है। अर्थात् अज्ञात ज्ञान भी विद्यमान हो सकता है। क्या यह स्थिति कल्पनार्ह है? मैं सामने मेज़ पर रखी पुस्तक को देखता हूँ। क्या इस देखने से मैं अनभिज्ञ रह सकता हूँ? इस प्रश्न का निश्चित उत्तर देना कठिन है। न्याय–वैशेषिक इसका उत्तर सकारात्मक देते हुए स्पष्टीकरण देते हैं कि ज्ञाता को कुछ परिस्थितियों में उसी का ज्ञान अज्ञात रह सकता है यद्यपि सामान्यतया कोई ज्ञान घटित होने पर उसकी ज्ञाता के मन में अनुव्यवसाय के रूप में 'मैं यह जानता हूँ' इस प्रकार की विज्ञप्ति प्राय: हुआ करती है। प्राभाकर मीमांसक अज्ञात ज्ञान के विचार को स्वीकार नहीं करते। ज्ञान एक ज्ञातृ–बाह्य घटना या क्रिया नहीं है जिसके घटित होने के सम्बन्ध में ज्ञाता को संदेह करने की गुंजाइश हो। ज्ञान का होना वर्षा या इस जैसी घटना होने के समान नहीं है जिसका वर्णन 'यह ज्ञान हुआ' जैसे शब्दों से किया जाना उचित होगा। किसी वस्तु या घटना का ज्ञान होने पर ज्ञाता के मन में ज्ञान–विषयक अनुभूति—जो भावनात्मक होती है—उत्पन्न होती है जो उसे ज्ञान के ज्ञान या अनुव्यवसाय तक पहुँचाती है। इस विचार को प्राभाकर मीमांसकों ने कुछ भिन्न रूप देकर 'त्रिपुटी प्रत्यक्ष' नाम का अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी भी विषय का ज्ञान विषय के साथ ज्ञाता को अपने को भी अपने विषय के रूप में अवगुण्ठित करता है। लेकिन ज्ञाता केवल ज्ञाता के रूप में और ज्ञान केवल विषयी के रूप में इस ज्ञान में समाविष्ट होते हैं। इसका सरल शब्दों में अभिप्राय यह है कि ज्ञान घटित होने पर उसके सम्बन्ध में कोई विचार ज्ञाता करे या न

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करे, इस घटना की आत्म-स्वीकृति रूप से तो वह यह विचार करता ही है। इस पर कहा जा सकता है कि यथार्थवाद को भले ही अस्पष्ट पार्यन्तिक अवस्था तक ले जाकर न्याय-वैशेषिक दर्शन ने ज्ञान को बाह्य वर्षादि घटनाओं के अनुरूप बाह्यता के स्तर पर ला कर रख दिया है। वस्तुस्थिति ऐसी बिल्कुल नहीं है। ज्ञान, इच्छादि तथाकथित मनोवृत्तियों के कारण ही ज्ञातृ आत्मा की आन्तरता और वैयक्तिता संरचित होती है। यदि ये वृत्तियाँ बाह्य विषय सदृश ही हो जाएँ तो कोई भी ज्ञाता अपने अनन्य साधारण ज्ञातृत्व को अपने में कैसे समेट पायेग़ा?

ख़ैर, अब न्याय-वैशेषिक दर्शन के ज्ञात ज्ञान-विषयक विचार का कुछ विस्तृत परीक्षण करें। विषयभूत पदार्थों की ज्ञेयता (ज्ञान-विषयता तथा ज्ञानविषय-योग्यता दोनों) न्याय-वैशेषिक पूर्वोक्त विधाओं से समर्थित कर सकते हैं। लेकिन ज्ञान की उभयविध ज्ञेयता का इन विधाओं से समर्थन करना कठिन है। ज्ञान एक अन्यतम विषयभूत (एवं विषयिभूत भी) पदार्थ होने पर भी एक व्यक्ति के ज्ञान का ज्ञान किसी अन्य व्यक्ति को नहीं हो सकता। ज्ञान सहित सब पदार्थों को विषय मान लेने पर भी ज्ञान की वैयक्तिकता या विषयिता का अपलाप यह दर्शन नहीं कर सकता, लेकिन कोई भी बाह्य पदार्थ किसी भी व्यक्ति के ज्ञान का विषय हो सकता है। ज्ञान को ज्ञेय होने के लिए उसे अपने ज्ञाता के वैयक्तिक ज्ञान-विषयक ज्ञान का ही ज्ञेय होना होगा। इस दूसरे ज्ञान को उसी ज्ञाता के तीसरे ज्ञान का ज्ञेय होना होगा। यह ज्ञेय-ज्ञान-परम्परा या तो कभी समाप्त नहीं हो सकती या किसी अज्ञेय ज्ञान में उसे समाप्त होना होगा। यह अज्ञेय ज्ञान यथार्थवाद की उक्त मौलिक भूमिका के अनुरूप नहीं हो पायेगा।

इस कठिनाई का निरास करने के लिए ज्ञानों को कम से कम ज्ञान-विषयता-योग्य मान लिया जाए तो ज्ञान मात्र की विषयरूपता का समर्थन किया जा सकता है। जब कोई व्यक्ति अपने किसी ज्ञान के ज्ञान का प्रयास न कर पहले ज्ञान से ही सन्तुष्ट हो जाता है तो उसका यह ज्ञान ज्ञान-विषयता-योग्य अवश्य माना जा सकता है, भले ही ज्ञाता दूसरे ज्ञान के लिए प्रयत्नशील न हो।

ऑकलैण्ड (न्यूज़ीलैण्ड)

❑

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्राप्ति स्वीकार

पुस्तकें

1. *इन डिफेंस ऑफ मेटाफ़िज़िक्स,* सं. अम्बिकादत्त शर्मा तथा संजय कुमार शुक्ल, प्रकाशक—विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, पृ. सं. 418, मूल्य 800/-
2. *विचार और निर्विचार,* ले. आचार्य महाप्रज्ञ, प्रकाशक—वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, पृ.सं. 208, मूल्य 250/-
3. *जे. कृष्णमूर्ति : मानव-स्वातंत्र्य,* ले. राजेशकुमार चौरसिया, प्रकाशक—विश्वविद्यालय प्रकाशन सागर, पृ. सं. 192, मूल्य रु. 300/-

पत्रिकाएँ

1. *चिन्तन-सृजन* त्रैमासिक सं. बी.बी. कुमार, प्रकाशक—आस्था भारती, 12/604, ईस्ट एण्ड अपार्टमेन्ट, मयूर विहार, फेस-1 विस्तार, दिल्ली-110096
2. *डॉयलॉग* त्रैमासिक, सं. बी.बी. कुमार, प्रकाशक—आस्था भारती।
3. *अक्षरा* सं. सुनीता खत्री, प्र. मध्यप्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, हिन्दी भवन, श्यामला हिल्स, भोपाल-462002
4. *एटर्नल इण्डिया* मासिक, सं. दीनानाथ मिश्र, प्रकाशक—इण्डिया फर्स्ट फ़ाउण्डेशन, बी-1, नवभारत टाइम्स अपार्टमेन्ट्स, मयूर विहार, फेस-1, दिल्ली 110091
5. *जैन भारती* मासिक, सं. शुभू पटवा, प्रकाशक—जैन श्वेताम्बर तेरहपंथी महासभा, तेरहपंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर-331104
6. *वैचारिकी,* सं. बाबूलाल शर्मा, प्रकाशक–रतनबिहारी पार्क, बीकानेर, 334001
7. *मीडिया मीमाँसा* (त्रैमासिक), सं. अच्युतानन्द मिश्र, प्रकाशक—माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय, भोपाल।

□

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पुस्तक–समीक्षा – 1

स्वातन्त्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण : *तीन खण्डों में। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के लिए विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर द्वारा प्रकाशित, सम्पादक : अम्बिकादत्त शर्मा, मूल्य : प्रथम खण्ड 800/–, द्वितीय खण्ड 700/–, तृतीय खण्ड 600/–; पृष्ठ संख्या : प्रथम खण्ड 626 पृष्ठ, द्वितीय खण्ड 544 पृष्ठ, तृतीय खण्ड 426 पृष्ठ।*

दार्शनिक अराजकता का शोचनीय परिदृश्य

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष्य में सागर विश्वविद्यालय में दर्शन के आचार्य डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा के सम्पादन में प्रकाशित इन तीनों खण्डों में भारतीय दर्शन के 50 वर्षों का लेखा–जोखा देने का प्रयास है। इसमें प्रथम खण्ड का शीर्षक है 'समेकित दार्शनिक विमर्श', द्वितीय खण्ड का 'समेकित अद्वैत विमर्श' और अन्तिम खण्ड का शीर्षक है 'भारतीय दर्शन के 50 वर्ष'। प्रयास प्रशंसनीय है। 1946 के बाद भारत में दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में जो दयनीय अराजकता दिखाई पड़ती है उसकी संक्षिप्त झलक इन तीनों खण्डों में भलीभाँति मिल जाती है।

यह सुन्दर बात है कि जहाँ भारत के मुख्यत: समाजवादी राजनैतिक लक्ष्यों से प्रेरित और साथ ही यूरोख्रीस्त दृष्टि से संचालित राज्यतन्त्र द्वारा सोवियत कम्युनिस्ट 'मॉडल' पर रचित 'भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्' नामक संस्था द्वारा, अथवा भारतीय विश्वविद्यालयों के दर्शन विभागों द्वारा किये गए इस प्रकार के अन्य कार्य और भी अधिक संकीर्ण दृष्टि से भरपूर हैं, वहाँ एक मनीषी दार्शनिक श्री यशदेव शल्य द्वारा स्थापित संस्था अखिल भारतीय दर्शन परिषद् का यह प्रकाशन अपेक्षाकृत थोड़ा ठीक कहा जा सकता है। यद्यपि विषय से न्याय के लिये उत्तम यह होता कि सम्पादक स्वयं, या किसी अन्य तेजस्वी विद्यार्थी के द्वारा इस विषय पर भारतीय दार्शनिकों श्री यशदेव शल्य, श्री गोविन्दचन्द्र पाण्डे, श्री नारायण शास्त्री द्राविड़ से इस विषय पर गम्भीर संवाद करते कि सहसा भारत का दार्शनिक परिदृश्य ऐसा दीन–दरिद्र और क्षीण–निष्प्रभ क्यों दिखने लगा है? विश्वविद्यालयों में दर्शनशास्त्र की पढ़ाई में ऐसी क्या मारक सामर्थ्य है? पुनश्च, विश्वविद्यालयों से बाहर भारतीय धर्म–केन्द्रों से, या कि स्वयं की प्रातिभ दीप्ति से, एकमात्र अपवाद श्री यशदेव शल्य के अतिरिक्त और एक भी उद्भट दार्शनिक क्यों नहीं निकला? क्या राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि क्षेत्रों की ही भाँति दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में भी भारतीय प्रतिभा का विलोप हो चुका है? यदि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विलोप हुआ है तो वह स्मृति के स्तर पर है या संस्कारों के स्तर पर भी? परन्तु संस्कारों का विलोप तो असम्भव-प्राय है। क्या पूर्व में सहस्रों वर्षों तक जो भारत में महान मेधावी दार्शनिकों की परम्परा प्रवाहित रही वह सहसा शून्य हो गई? क्या अतीत के सभी महान भारतीय दार्शनिक परवैराग्यपूर्वक कैवल्य-सिद्ध हो गये हैं? या कुछेक प्रकृतिलय अथवा विदेहलय की स्थिति में हैं? क्या उनमें से कोई भी ऐसे कर्माशय के साथ नहीं गये हैं जिससे कि वे उस संचित कर्माशय से पुनः श्रेष्ठ दार्शनिक के रूप में भारत में जन्म लें? क्या विगत एक सौ वर्षों में उत्पन्न प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक स्मृति और संस्कार के स्तर पर तथा वासना एवं कर्माशय के स्तर पर भारतीय प्रज्ञा से रिक्त या रहित होकर ही गये हैं? क्या स्मृति मात्र शिक्षा-संस्थानों में पढ़ने से प्राप्त होती है जो यूरोक्रिश्चियन शिक्षा-संस्थानों में पढ़ने के कारण वे सब भारतीय प्रज्ञा की साधना की वासना से शून्य हो गये और मात्र यूरोक्रिश्चियन बुद्धि के अनुकरण की वासना, स्मृति एवं संस्कारों से परिचालित रहे? अस्तु, प्रश्न है कि दर्शन क्या है? 'दर्शन' पद का अर्थ चैतन्य है या फिर आचार्य पंचशिख का संदर्भ लें तो 'ख्याति' अर्थात् बुद्धि-वृत्ति या बौद्ध ज्योति, बौद्ध प्रकाश ही दर्शन है? परन्तु बौद्ध प्रकाश तो विराट् एवं विविध रूप है! तब? दर्शन किसे कहेंगे? और भारतीय दर्शन किसे कहेंगे?

यदि दर्शन सार्वभौम है तो फिर चीन, जापान, घाना, चीले, मंगोलिया, अरब, जार्डन, इराक, ईरान, बांगलादेश, पाकिस्तान, संयुक्त राज्य अमरीका, जर्मनी, इंग्लैण्ड, फ्रांस, भारत—सर्वत्र एक ही प्रकार से दर्शन पढ़ाया जाना स्वाभाविक होना चाहिए। परन्तु ऐसा तो है नहीं। भारतीय दर्शन न तो इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी या संयुक्त राज्य अमरिका में फिलॉसफी के सामान्य अध्ययन-अध्यापन का अङ्ग है, न ही पाकिस्तान, चीन, जापान, बांगलादेश, सीरिया, जार्डन, इराक आदि में। तब भारत के विश्वविद्यालयों में दर्शन विभागों में यूरोक्रिश्चियन दार्शनिकों को वैश्विक चिन्तन के रूप में पढ़ाने का आधार क्या है? क्या किसी दिन भारतीय दार्शनिकों की महासभा में कई दिनों के मंथन के बाद यह सर्वसम्मत निष्कर्ष निकला कि उक्त यूरोक्रिश्चियन दर्शन ही सार्वभौम मानवीय प्रज्ञा की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्तियाँ हैं अतः इन्हें ही भारतीय दर्शन-विभागों एवं दर्शन-संस्थानों में पढ़ाया जाए? या यूरोप-अमेरीका घूमकर आए अथवा पढ़कर आए या फिर वहाँ से प्रेरित-प्रभावित कतिपय शैक्षणिक अफसरों ने राज्याश्रय के बल से यह स्वैर निर्णय ले लिया और भारतीय अध्येताओं ने निरीह दैन्य-भाव से उस निर्णय को शिरोधार्य कर लिया? शिरोधार्य करने के पीछे आजीविका-प्रतिष्ठा-सुविधा-भोग आदि की प्रेरणा थी या प्रज्ञा के स्तर पर स्तब्ध-भाव इसका कारण रहा? भारतीय बुद्धिजगत् में यूरोक्रिश्चियन दर्शन के प्रति इस ऐकान्तिक श्रद्धा का उत्पत्ति-कारण क्या है? स्थिति-कारण क्या है? धृति-कारण क्या है? अभिव्यक्ति कारण क्या है? प्रत्यय-कारण क्या है? अन्यत्व-कारण (यूरोक्रिश्चियन दर्शन को ही भारतीय दर्शन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भी मान लेना) क्या है? इन सभी बातों पर भारतीय दार्शनिकों को विचार करना चाहिए था, विगत पचास वर्षों में। पर वह तो हुआ दीखता नहीं। इन तीन खण्डों में भी ऐसा कोई प्रयास नहीं है। लगता है, शल्य जी के बाद अखिल भारतीय दर्शन परिषद् में वैसी कोई बड़ी प्रतिभा फिर नहीं उभरी।

यहाँ 'भारतीय दर्शन' से तात्पर्य मात्र दैशिक संदर्भ से नहीं है, यह तो सर्वविदित है। श्री यशदेव शल्य ने भारतीय दैशिक परिधि के विश्वविद्यालयों के वरिष्ठ अध्यापकों द्वारा लिखी गई और 'समकालीन भारतीय दर्शन' के नाम से सम्पादित-प्रकाशित शब्दावली की अभारतीयता को अपने लेखों द्वारा भलीभाँति स्पष्ट कर ही दिया है (इस विषय में उनकी पुस्तक 'समसामयिक चिन्ताएँ' का लेख 'समकालीन भारतीय दर्शन' तथा उसमें समेकित अन्य लेख पर्याप्त हैं)। प्रश्न है कि उस पदावली को भारतीय किस प्रकार कहा जा सकता है? जिन अर्थों का संकेत ईसवी सन् 1946 से पूर्व तक भारत के ज्ञानवृद्ध मनीषी जिन पदों द्वारा करते रहे हैं वे अर्थ निस्सार हैं, इसका दार्शनिक परीक्षण कब-कहाँ किया गया? ब्रह्म, मोक्ष, धर्म, स्वधर्म, सामान्य-धर्म, विशेष-धर्म, जीवन, सत्ता, पुनर्जन्म, जगत्, ईश्वर, प्रज्ञा, बुद्धि, मति, चित्त, मेधा, प्रेयस्, श्रेयस्, विवेक, विवेकख्याति, पुरुषार्थ, विपर्यय, प्रमाण, विकल्प आदि पदों का दर्शन-क्षेत्र में भारत में जिन अर्थों में प्रयोग वृद्धसंवाद के माध्यम से होता रहा है, पारम्परिक वाग्व्यवहार की वासना से वासित लोकबुद्धि में वे पद, उनके अर्थ तथा प्रत्यय जिस रूप में भासित होते रहे हैं, जिन अर्थ-संकेतों से यह पदार्थ-प्रत्यय-परम्परा अनुशासित रही है, उनकी निस्सारता या अलीकता या उनके व्यतीत हो चुकने सम्बन्धी निर्णय का निर्धारण कब-किन दार्शनिकों द्वारा किस दार्शनिक सभा में या किस दार्शनिक विवेचन में किया गया? उनका अर्थोन्मेष या अर्थान्तर यदि किया जाए तो उसके लिए नये अर्थ-संकेतकों की योग्यता का निकष क्या है? क्या वे शब्द, अर्थ और प्रत्ययों के भिन्नत्व में संयम करने वाले योगी हैं? यदि योगी हैं तो उनमें पारम्परिक भारतीय पदों के ही अर्थान्तर की विशेष वासना क्यों है? क्या उन्होंने समस्त प्राणियों, या कि समस्त मानव-जातियों के शब्दों का ज्ञान प्राप्त कर, उनके अर्थों का साक्षात्कार कर, फिर केवल भारतीय पदों को ही यूरोख्रीस्त अर्थों के अनुकूल अर्थान्तर योग्य पाया है? क्या ऐसा अर्थान्तर कर वे मानव-जाति या प्राणि-मात्र के लिए किसी बृहत्तर सत्य को उद्घाटित करने के श्रेयस्कर पुण्य-कर्म के प्रयोजन से प्रवृत्त हैं? अथवा राज्याश्रित शिक्षा-तन्त्र के विविध स्तरीय अफसरों द्वारा पुरस्कार, पदोन्नति, धन-लाभ, विदेश-भ्रमण एवं तात्कालिक रूप से विश्वविजयी दिख रहे या प्रतीत हो रहे यूरोख्रीस्त विद्वानों से विनीत वार्त्ता द्वारा लौकिक या आध्यात्मिक लाभ-विशेष के प्रयोजन से प्रवृत्त हैं?

संवाद की सुगमता के लिए यदि थोड़ी देर को यह मानकर बात शुरू की जाए कि दर्शन सार्वभौम है तो उस सार्वभौम दर्शन के पद क्या होंगे? यहाँ संस्कृत, हिन्दी,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अंग्रेज़ी, लैटिन, जर्मन, रूसी, फ्रेंच आदि भाषाओं की बात नहीं हो रही है कि वे पद किस भाषा में होंगे? भाषाओं में तो परस्पर यथासम्भव अनुवाद किया जा सकेगा। परन्तु प्रश्न यह है कि सार्वभौम दर्शन की पदावली का निर्णय किस प्रक्रिया से सम्भव होगा? ब्रह्म, जीव, मोक्ष, विवेक, ईश्वर, विवेकख्याति, पुनर्जन्म, द्रष्टा, दृश्य, हेय, श्रेय, हान, हानोपाय, प्रकृति, सत्य, अनिर्वचनीय, अपवर्ग, अलिंग, ऋत, ऋतम्भरा प्रज्ञा, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अविद्या, आनन्द, समाधि, चित्त-प्रसाद, वैराग्य, करुणा, कर्मयोग, कर्मवासना, कर्माशय, कर्मविपाक, कैवल्य, क्लेश, क्लेश-निवृत्ति, गुणवृत्ति, गुणपर्व, चित्तभूमि, चित्तवृत्ति, ज्ञान, ज्ञानप्रसाद, तप, दर्शन, दृष्टजन्मवेदनीय, अदृष्टजन्मवेदनीय, धर्म, धर्मी, धर्मपरिणाम, ध्यान, निरोध, निरोध-परिणाम, निर्विचार, निर्विचार-वैशारद्य, निर्वितर्का समापत्ति, निर्बीज समाधि, परमार्थ, परमार्थ-सिद्ध, पुरुष, पुरुषार्थ, पूर्वजन्म, पुण्य, प्रणव, प्रतिप्रसव, प्रत्यक्-चेतन, लोकसंस्थान, वासनाभिव्यक्ति, वासनालम्बन, विद्या, चिति, संयम, संस्कार, समापत्ति, सम्प्रज्ञात, सम्प्रतिपत्ति, स्वाध्याय आदि पद भी उस सार्वभौम दर्शन-पदावली में (विश्व की सभी भाषाओं में) रहेंगे या नहीं? या केवल संशयवाद, अस्तित्ववाद, अस्तित्व, विश्वास (फ़ेथ), स्वतन्त्रता, सीरीज़ ऑफ अण्डर्टेकिंग्ज़, स्वतन्त्र वरण, संकल्प-निर्धारण, स्वचेतनता, संवेद, तार्किक प्रत्यक्ष, अण्डरस्टेण्डिंग, लोक-संज्ञान की प्रतिज्ञप्तियाँ, अणु-तथ्य, तार्किक संज्ञा, निदेश (मैग्ज़िम), रेशनलाइज़ेशन, रेशेनेलिटी, सतह व्याकरण, गूढ़ व्याकरण, व्याकरण-वाक्य, फिनॉमिनलिज़्म आदि-आदि पद ही सार्वभौम दर्शन के पद होंगे? परन्तु यदि भाषा पर विचार का अर्थ है उसके भाषियों की जीवन-योजना, अवधारणाओं एवं अनुभूतियों तथा आवेगों पर विचार करना तब तो मात्र यूरोख्रीस्त दर्शन को सार्वभौम मानना भयंकर एवं क्रूर नस्लवाद है। यह शेष मनुष्यों के जीवन का निषेध है।

दर्शन को लेकर एक सार्थक परिसंवाद का सारांश अवश्य प्रथम खण्ड में दिया गया है, परन्तु वह केवल इस विषय तक सीमित है कि 'क्या दर्शन भाषा-विश्लेषण है?' वस्तुतः इस परिसंवाद का सही शीर्षक होता 'क्या भाषा-विश्लेषण भी दर्शन-व्यापार का अवयव है?' वक्ताओं ने विषय को इसी रूप में देखा है। दर्शन क्या है, इस पर सभी महत्त्वपूर्ण समकालीन दार्शनिकों के मध्य एक व्यापक परिसंवाद अधिक आवश्यक है। इस खण्ड में प्रस्तुत परिसंवाद में भी संवाद की अल्पता है, एकालापों की और स्वगतालापों की प्रचुरता है, जिससे इसे परिसंवाद मान पाना कठिन है। शल्य जी और राजेन्द्र प्रसाद जी दोनों में तो इस परिसंवाद में कोई संवाद है ही नहीं। फिर, आवश्यकता तो 'दर्शन क्या है' पर व्यापक राष्ट्रीय परिसंवाद की है।

शल्य जी ने बहुत अच्छी तरह संक्षेप में यह तथ्य उपस्थित किया है कि 'दर्शन' पद के अर्थ-विस्तार पर भी दार्शनिकों में इन दिनों विभिन्न मत हैं। तार्किक भाववादियों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ने बर्गसां, सार्त्र, हेगेल आदि के प्रतिपादनों को प्रज्ञानात्मक अर्थ से रहित कल्पनाएँ एवं पहेलियाँ कहा है। कार्नप का अभी दर्शन कहे जा रहे कार्य–व्यापार से विरत होकर वैज्ञानिक वाक्यों के तार्किक विश्लेषण आदि को ही दर्शन कहने का आग्रह है। शल्य जी यह उचित ही कहते हैं कि केवल भाषा–विश्लेषण को दर्शन कहना कुछ लोगों का व्यक्तिगत निर्णय है।

श्री शल्य ने दिखाया है कि "जिसे आज कुछ दार्शनिक भाषा–विश्लेषण कह रहे हैं वह वस्तुतः भाषिक पुनर्रचना है और भाषा से उन लोगों का भाव अवधारणात्मक योजना से है।" इस प्रकार यह अवधारणात्मक पुनर्रचना हो गई। परन्तु यह तो बौद्धिक क्रीड़ा विशेष है। यह 'दर्शन' किस प्रकार हुआ? इसे उत्कृष्ट मनोरंजक बौद्धिक व्यायाम क्यों न कहा जाए? या फिर जैसा विट्गिन्स्टाइन, राइल, ऑस्टिन आदि के संदर्भ में शल्य जी ने स्पष्ट किया है, ये भाषा–चिकित्सक सामान्य भाषा की अयोग्यता से चिन्तित होकर एक भिन्न भाषा की खोज में रत हैं। तो क्या दार्शनिक समस्या केवल भाषा–विषयक एवं भाषा–जनित है? शल्य जी कहते हैं, "एक दर्शन का अभिप्राय एक अवधारणात्मक योजना से है, एक संस्थान और संस्थानीकरण के नियमों से है।" तब स्पष्टतः भाववादी दर्शन–प्रणाली की अपनी एक अवधारणात्मक योजना है, वह भाषा–विश्लेषण नहीं है अपितु भाषा–विश्लेषण स्वयं ही उस अवधारणात्मक योजना का अवयव है।

श्री राजेन्द्र प्रसाद ने यह तो साग्रह कहा है कि "मेरा मतलब यह है कि दार्शनिक अन्वेषण को भाषा–विश्लेषण का ही रूप धारण करना चाहिए", परन्तु यदि "सत्ता–विषयक प्रश्न दार्शनिक प्रश्न नहीं हैं", और "सत्ता–विषयक प्रश्नों के उपयुक्त उत्तर ढूँढ निकालने की क्षमता विज्ञानों की है, दर्शन की नहीं" (जैसा कि वे कहते हैं) तथा यदि "दार्शनिक सदियों से ज्ञानार्जन के साधनों या स्रोतों की छानबीन इस भ्रम में करते रहे हैं कि यह दार्शनिक समस्या है", और 'दर्शन में भाषा के तार्किक नियमों को' समझने का ही प्रयास होता है, तो उसे 'दार्शनिक विश्लेषण' ही कहना चाहिए और इस प्रकार स्वयं राजेन्द्र प्रसाद जी के उक्त प्रथम वाक्य में 'अन्वेषण' शब्द शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्य कथन है। वह वाक्य यों सही होगा "दार्शनिक विश्लेषण को भाषा–विश्लेषण का ही रूप धारण करना चाहिए।" वे कहते भी हैं कि "दर्शनशास्त्र भाषा के अर्थपूर्ण प्रयोग के विभिन्न नियमों की व्याख्या कर उनके प्रति हमें जागरूक बनाता है।" परन्तु वे शल्य जी की बात का खण्डन–मण्डन कुछ भी नहीं करते, यहाँ तक कि यह तक प्रश्न नहीं उठाते कि अवधारणात्मक योजना भाषा में ही और भाषा के अर्थपूर्ण प्रयोग द्वारा ही सम्भव है, अतः उक्त व्याख्या द्वारा स्वयं अवधारणात्मक योजना के प्रति भी भाषिक एवं अर्थ–सम्बन्धी जागरूकता सहज ही सम्भव है (यदि परिसंवाद में उन्होंने ऐसा कुछ कहा हो जिसका इस संकलन में उल्लेख होने से रह गया हो तो मेरी इस बात का आधार नहीं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रह जाएगा)। हाँ, द्राविड़ जी और मसीह जी ने अवश्य परिसंवाद में सभी पक्षों का संज्ञान लिया है। पुनः, द्राविड़ जी ने अत्यन्त सबल तर्काधारित अनेक महत्त्वपूर्ण टिप्पणियों के साथ ही, भाषा-विश्लेषणवादियों की एवं राजेन्द्र प्रसाद जी की स्थापनाओं का खण्डन किया है और शल्य जी की भी, अतः इसे परिसंवाद तो तभी कहा जा सकता था जब उस पर उक्त दोनों विद्वान दार्शनिकों का भी अभिमत आता। इसी प्रकार, श्री याकूब मसीह ने बहुत रोचक तर्क उठाया है कि डॉ. प्रसाद की स्थापना की तर्कसंगति इसमें है कि 'दार्शनिक' को 'मानव' न माना जाए; यद्यपि प्रसाद जी की ओर से यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक सामान्य मानव नहीं होने से वह विशिष्ट मानव हुआ जो सामान्य मानव के रूप में नैतिक बनने और बनाने का पुनीत कार्य करता है या ऐसा करना जिसका कर्त्तव्य है, परन्तु दार्शनिक के रूप में उसका एक अन्य विशिष्ट कार्य है—भाषा के अर्थपूर्ण प्रयोग के विभिन्न नियमों की व्याख्या कर उनके प्रति मानव को जागरूक बनाना, जो नैतिक बनने-बनाने का विरोधी नहीं है, अपितु उससे तटस्थ है, उदासीन है। परन्तु मूल बात जो श्री मसीह ने कही है वह वस्तुतः गम्भीर है। उन्होंने यह लक्ष्य किया है कि डॉ. प्रसाद ने भाषा-विश्लेषण (दार्शनिक विश्लेषण) की स्पष्ट परिभाषा इस परिसंवाद में नहीं बताई है और उसकी उपादेयता का उल्लेख करते हुए भी उसकी कोई कसौटी नहीं दी है। याकूब मसीह ने कहा है कि दर्शन का विषय ज्ञान-प्राप्ति नहीं है अपितु आत्मप्राप्ति सम्बन्धी अनुभूति से दर्शन सम्बद्ध है और यह अनुभूति प्रज्ञानात्मक नहीं है, केवल अनन्दात्मक है। आत्मप्राप्ति दिव्यदृष्टि से सम्भव है। साथ ही यह भी कहा है कि दर्शन भाषीय विश्लेषण है (परिसंवाद जिस रूप में प्रकाशित है, उसमें बहुत सी अस्पष्टताएँ हैं), परन्तु 'भाषीय विश्लेषण' पद को उन्होंने भी परिभाषित नहीं किया है। जब याकूब मसीह कहते हैं कि "दर्शन का विषय आत्मप्राप्ति सम्बन्धी आनन्दात्मक अनुभूति है" और साथ यह भी कि "दर्शन भाषीय विश्लेषण है" तब वह आनन्दात्मक अनुभूति भी मात्र भाषीय-विश्लेषण से प्राप्त आनन्द की अनुभूति ही ठहरती है। परन्तु यह आनन्दात्मक अनुभूति जिस मन को हो रही है वह तो दर्शन का विषय नहीं है भाषा-विश्लेषणवादियों की दृष्टि में। तब? मन स्वस्थ है या भ्रान्त, इसका परीक्षण तो उनके अनुसार विज्ञान ही करेगा।

दूसरे परिसंवाद पर की गई सम्पादकीय टिप्पणी इस भ्रांति को दुहराती है कि प्लेटो से क्रिश्चिएनिटी तक यूरोप में कोई दार्शनिक निरन्तरता है जबकि यह पूर्णतः असत्य है। यूनान वस्तुतः पारसीक प्रदेश से सटा देश रहा है। पुराणों के अनुसार यवन देश भारतवर्ष का अङ्ग है। यूनान और शेष भारत के चिन्तकों में हज़ारों वर्ष पूर्व से परस्पर गहरी आत्मीयता तथा ज्ञानात्मक विमर्श चलता रहा। क्रिश्चिएनिटी का प्लेटो-अरस्तू से कोई भी सम्बन्ध नहीं है और वह उनके दर्शनों के नितान्त विरुद्ध है। 'लॉजिकल पॉज़िटिविज़्म' क्रिश्चिएनिटी को भौतिक विज्ञानों के तथ्यों तथा प्रबुद्ध चेतना के प्रहारों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से बचाने की सूक्ष्म यूक्तियों की संरचना है। क्योंकि 'रेनेसां' के बाद से पॉलीज़ क्रिश्चिएनिटी यूरोप में तार्किक स्तर पर अप्रतिष्ठित हो गई और उसके आधार ध्वस्त हो गए अतः समर्पित निष्ठावान् क्रिश्चियन दार्शनिकों ने विज्ञान के तथ्यों के प्रत्यक्ष बौद्धिक वैभव के समक्ष दीन-हीन दिख रहे क्रिश्चिन 'विश्वासों' की रक्षा के लिए तर्क-वैभव रचा है और भौतिक संसाधनों द्वारा इन तर्कों के पक्ष में एक सम्मोहन उत्पन्न करने का सुनियोजित प्रयास क्रिश्चियन शासन-तन्त्र करते रहते हैं। अपने दार्शनिक दारिद्र्य को ढँकने के लिए क्रिश्चियन बौद्धिकों ने प्लेटो आदि से स्वयं को सम्बद्ध दर्शाना स्वीकार किया। प्रारम्भ में रेनेसां के दिग्गजों ने ख्रीस्त-पूर्व (प्रि-क्रिश्चियन) यूरोप की खोज के क्रम में प्लेटो आदि को खोजा था—चर्च के भयावह यन्त्रणापूर्ण तन्त्र से बौद्धिक-सांस्कृतिक मुक्ति के क्रम में, परन्तु बाद में चर्च ने भी उससे समायोजन कर लिया। तथापि प्लेटो-अरस्तू के विचारों से 'क्रिश्चिएनिटी' का कोई दूरागत या दूरगामी सम्बन्ध तक नहीं है। उसका सम्बन्ध 'एन्टी-क्रिश्चियन रेनेसां' से है।

यह देखना सुखद है कि इस दूसरे परिसंवाद में संवाद सचमुच सम्भव हुआ है। श्री यशदेव शल्य और श्री सुरेशचन्द्र के मध्य तो सघनता से संवाद हुआ है, श्री याकूब मसीह भी मूल विषय पर ही केन्द्रित रहे हैं तथा नामोल्लेख के बिना ही दोनों पूर्व वक्ताओं के अभिमत पर उन्होंने टिप्पणी भी की है। अतः इसमें वैसा विसंवाद नहीं है जैसा प्रथम परिसंवाद में है।

श्री गोविन्दचन्द्र जी पाण्डे और श्री नारायण शास्त्री द्राविड़ ने अद्वैत वेदान्त पर गहन चिन्तन किया है। पाण्डे जी ने दार्शनिक विमर्श, सृजन एवं परम्परा पर तथा पुनर्जन्म की भारतीय अवधारणा पर भी प्रकाश डाला है जबकि द्राविड़ जी ने भारतीय तर्कशास्त्र पर। अद्वैत वेदान्त पर श्री दयाकृष्ण ने कौतुकी वृत्ति से विचार कर उसे तथा दर्शन मात्र को छलावा तथा जुए का खेल कहा है। इस प्रकार उन्होंने मानो स्वयं को आजीवन जुआ खेलते रहने वाला स्वीकार किया है। श्री दयाकृष्ण में यह खिलंदड़ी वृत्ति ही प्रधान थी, पर खेल बड़े ऊँचे स्तर का था।

इससे भिन्न श्री गोविन्द चन्द्र जी पाण्डे का कथन है कि "दार्शनिक अनुसंधान प्रतीतिमात्र अथवा व्यवहार से उपलब्ध अर्थ के विषय में तात्त्विक संशय और जिज्ञासा होने पर लक्षण और प्रमाण के द्वारा उसकी परीक्षा में प्रवृत्त होता है और विप्रतिपन्न विषय के पारमार्थिक स्वरूप के निर्णय की ओर प्रयत्न करता है। दार्शनिक व्याख्या एक तात्त्विक विश्व के संदर्भ में होती है। दार्शनिक जिज्ञासा का विषय है वह सत्य 'यस्मिन् विज्ञाते सर्वं इदं विज्ञातं भवति।' प्रचलित व्याख्याओं की समीक्षा से दर्शन का आरम्भ होता है।" ज़ाहिर है, श्री राजेन्द्र प्रसाद की परिभाषा के अनुसार यह कार्य दर्शन का नहीं विज्ञान का है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

श्री गोविन्द चन्द्र जी पाण्डे कहते हैं कि "लोक-संज्ञान के गर्भ से परीक्षाधात्री के हाथों विद्या का जन्म होता है। लोक-संज्ञान में वस्तु और मूल्य दोनों की ही प्रतिपत्ति होती है। वैज्ञानिक विवेचन नूतन और व्यवहार्य तथ्यों की उपलब्धि करता है, दार्शनिक विवेचन उपलब्ध तथ्य में अन्तर्निहित तत्त्वों का अवधारण करता है। तत्त्वावधारण तथ्याविष्कार से भिन्न है किन्तु दोनों परस्पर निरपेक्ष नहीं हैं। इसी प्रकार एक ओर मूल्यों की उपलब्धि और अभिव्यक्ति की सृजनात्मक धारा है, दूसरी ओर उनकी तात्त्विक आलोचना की। पहली धर्म, काव्य, कला आदि में प्रवाहित होती है, दूसरी तद्विषयक दार्शनिक आलोचना में।" "ज्ञान का स्वतः कोई आकार नहीं होता, ज्ञेय का आकार ही ज्ञान में भासित होता है। ज्ञानाकारिक नियम को अन्ततः वस्तुमूलक ही मानना चाहिए, ज्ञानमूलक नहीं। जैसे तथ्य का निर्णय प्रत्यक्षपूर्वक हेतु प्रयोग के द्वारा होता है, ऐसे ही मूल्य-निर्णय अनुभूतिपूर्वक हेतु-प्रयोग के द्वारा होता है।" "रूप, राग, रस और धर्म चित्तसापेक्ष होते हुए भी स्वभाव-प्रतिसंयुक्त हैं एवं एक बुद्धिगोचर व्यवस्थित विश्व का आक्षेप करते हैं। अन्ततोगत्वा आत्मानुभूति अथवा ईश्वरानुभूति में सत् के दोनों आयाम—वास्तविकता और मूल्यवत्ता—एकत्र हो जाते हैं।" "आकार अपनी किसी स्वरूप-योग्यता के कारण भाव का आलम्बन नहीं बनते। उनका प्रकट वैचित्र्य यह सूचित करता है कि उनके आलम्बन बनने की नियामकता वासना अथवा संस्कारों में निहित है।" "ज्ञान का आदर्श वस्तुतः आत्मज्ञान ही है। प्रकृति-पुरुषात्मक द्वैत से ग्रस्त अपने बोध का तात्त्विक विवेचन दार्शनिक को लोक-व्यवहार के परे अपने आध्यात्मिक स्वरूप की सूचना की ओर ले जाता है।"

पुनर्जन्म पर अपनी विवेचना में पाण्डे जी कहते हैं, "भारतीय धर्म के अतिरिक्त और किसी भी धर्म में पुनर्जन्म की धारणा नहीं मिलती। मनुष्य की मानसिक और आत्मिक अनुभूति स्थूल देह से भिन्न प्रकार की वास्तविकता का आभास देती है, जिसका सही ज्ञान योग के द्वारा सम्भव है। योग के द्वारा चित्त की सहज ज्ञानशक्ति का विकास होता है जिसे प्रातिभ या समाधिजन्य प्रज्ञा कहा जाता है। इस शक्ति से सूक्ष्म, अतीन्द्रिय एवं अपरिदृष्ट अर्थ करामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाते हैं। इसी शक्ति के कारण ऋषियों को मन्त्र-द्रष्टा माना जाता था। योगशास्त्र के अनुसार एक संयम विशेष से पूर्वजन्म का ज्ञान सम्भव है। बौद्ध परम्परा के अनुसार भगवान् बुद्ध को सम्बोधि के पूर्व तीन विद्याएँ प्राप्त हुईं—जिनमें अपने पूर्वजन्म का ज्ञान और जीवों के पुनर्जन्म का ज्ञान—ये दो विद्याएँ सम्मिलित थीं। जैनों के अनुसार तीव्र तप से कर्म का आवरण क्षीण होने पर यह ज्ञान सम्भव है। वैदिक परम्परा में पुनर्जन्म-सिद्धान्त का आधार आगम है। आगम ऋषियों के मानस में प्रकाशित ईश्वरीय अथवा नित्य ज्ञान है।...पुनर्जन्म की प्रामाणिकता मूलतः योगसमाधिजन्य ज्ञान पर आधारित है। उसका निराकरण भौतिकवाद अथवा अभारतीय धर्मों के आगम के आधार पर करना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

न्यायसंगत नहीं होगा। पुनर्जन्म में मुख्य प्रमाण योगानुभूति है। जातिस्मर व्यक्तियों का दृष्टान्त पुनर्जन्म का स्थूल सत्यापन है।" परन्तु समकालीन भारतीय दार्शनिकों की बड़ी संख्या पुनर्जन्म का निराकरण अभारतीय धर्मों के आगमों के आधार पर ही करती है, यह सर्वविदित है।

प्रथम खण्ड का पुरोवाक् श्री यशदेव शल्य ने लिखा है। श्री शल्य ने स्पष्ट किया है कि भारत (के बड़े अंश) पर ब्रिटिश क्रिश्चियन दृष्टि से आरोपित राज्य ने सम्पूर्ण भारत को एंग्लो-सेक्सन लॉ और प्रोटेस्टेण्ट क्रिश्चियन दार्शनिक दृष्टि के अधीन किस प्रकार नियन्त्रित किया, जिसके कारण भारत में विद्या की भाषा भी बलपूर्वक ब्रिटेन की भाषा को ही बना डाला गया। स्पष्ट है कि ऐसा तो प्रचण्ड आसुरी बल के बर्बर प्रयोग द्वारा ही सम्भव हुआ, यद्यपि शल्य जी ने इसका उल्लेख नहीं किया है। परन्तु यह प्रसङ्ग उठाना इसलिए आवश्यक है कि यदि स्वयं की श्रेष्ठता के विषय में आश्वस्ति किसी एक नितान्त भिन्नधर्मी, भिन्न-जातीय राज्यारूढ़ वर्ग को ऐसे नृशंस, बर्बर एवं पापपूर्ण बल प्रयोग द्वारा शासित समाज के विद्यातन्त्र के (जिसका विवरण स्वयं तत्कालीन अंग्रेज़ों ने संगृहीत किया था और उस संग्रह के अंशों को महात्मा गांधी ने तो छापा ही था, धर्मपाल की पुस्तक 'द ब्यूटिफुल ट्री' वस्तुतः उसी संग्रह की प्रस्तुति मात्र है, जिसमें श्री धर्मपाल ने लम्बी भूमिका भर जोड़ी है) समूल नाश की पात्रता और वैधता देती है, तब भारत में भारतीय विद्या-परम्परा के सत्यनिष्ठ प्रतिभाशाली उत्तराधिकारियों द्वारा भी वर्तमान यूरोक्रिश्चियन विद्यातन्त्र का समूल विलोप अनिवार्य पावन कर्त्तव्य है। जब तक वास्तविक भारतीय विद्यातन्त्र की सुदृढ़ पुनर्स्थापना नहीं हो जाती तब तक विश्वविद्यालयों में तो भारतीय दर्शन की प्रतिभाएँ अपवादस्वरूप ही उभर पाएंगी। परन्तु ऐसा भारतीय विद्यातन्त्र पुनर्स्थापित करने के लिए भी तो दार्शनिक प्रज्ञा तथा राजनैतिक सामर्थ्य चाहिए। अभी तो वह दूर-दूर तक कहीं दृष्टि में नहीं आती। तो क्या भारतीय प्रज्ञा का सहज प्रवाह अब मात्र इतिहास की वस्तु है? क्या यहाँ अब वैसी दार्शनिक प्रज्ञा, वैसी राजनैतिक बुद्धि तथा उनसे परिचालित शक्ति कभी प्रतिष्ठित ही नहीं होगी? यह एक विवेच्य दार्शनिक प्रश्न या समस्या है।

निस्संदेह शल्य जी विश्वविद्यालीय तन्त्र के बाहर भारतीय प्रज्ञा के उत्कर्ष का दृष्टान्त हैं और श्री गोविन्दचन्द्र पाण्डे उस तन्त्र के भीतर भी ऐसी प्रज्ञा के उत्कर्ष की सम्भावना के प्रमाण हैं, परन्तु भारत का कोई भी समकालीन राजन्य वर्ग या राजनैतिक समूह इनमें से किसी से भी प्रेरित प्रभावित तक नहीं है, परिचालित होना तो दूरस्थ स्वप्न मात्र है। प्रसंगवश, यह भी विवेच्य है कि समकालीन भारतीय दार्शनिकों ने इन गम्भीर वैचारिक प्रश्नों की ओर दृष्टिपात तक उचित नहीं माना है—

(1) समकालीन भारत में राजपुरुष या राजन्य वर्ग की संज्ञा किसे दी जा सकती है?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(2) भारत के साधन-स्रोतों पर स्वामित्व भारतीय दृष्टि से किसका है? या किस-किस का, किस-किस रूप में, किस मर्यादा तक है?

(3) भारतीय राज्य का भारतीय समाज से क्या सम्बन्ध है और भारतीय दर्शनों के अनुसार क्या होना चाहिए?

(4) विद्या का स्वरूप निर्धारण करने के अधिकारी कौन-कौन हैं और उसकी प्रक्रिया क्या होनी वांछित है?

(5) भारतीय समाज की दैहिक-सामाजिक, वैचारिक-सामाजिक, आध्यात्मिक-सामाजिक, आर्थिक-सामाजिक एवं राजनैतिक-सामाजिक इकाइयाँ क्या-क्या रही हैं, क्या होनी चाहिएँ?

(6) न्याय की भारतीय परम्परा क्या रही है और वह अब क्या होनी चाहिए?

(7) इष्टापूर्त की परम्परा की विधिक स्थितियाँ क्या हैं और क्या होनी चाहिएँ?

(8) भारतीय धर्माचार्यों की भारतीय समाज एवं राज्य तन्त्र में आज कोई भी वैधानिक मान्यता नहीं है, सिवाय सभा-समितियों या न्यास के पदाधिकारी की विधिक स्थिति के; तो यह स्थिति धर्ममय है या पापमय?

(9) संस्कृति को रूपान्तरित करने की शक्ति स्वाधीन राष्ट्र के राज्य तन्त्र को कहाँ से प्राप्त हो गई? इस शक्ति का स्रोत क्या है? आधार क्या है? एवं अधिप्रामाण्य क्या है?

ऐसे और भी महत्त्वपूर्ण एवं आधारभूत प्रश्न हैं जिन पर उन समकालीन भारतीय दार्शनिकों ने भी कोई भी विचार नहीं किया है जो मात्र भाषा-विश्लेषणवादी नहीं हैं, उन्होंने भी नहीं किया जो भाषा-विश्लेषणवादी हैं। इसका कारण?

यहाँ संकेत स्वरूप मात्र दो प्रसंगों का उल्लेख स्थाने होगा—(1) समकालीन भारतीय राज्य आंग्ल भारतीय कानून-व्यवस्था (एंग्लो सेक्सन लॉ) और प्रोटेस्टेण्ट-क्रिश्चियन दृष्टि के विकृत रूप द्वारा संचालित है। विकृत रूप इसलिए कि प्रोटेस्टेण्ट क्रिश्चिन राज्य में अपने पंथ के धर्माचार्यों को विधिवत् वैधानिक सत्ता प्राप्त है। संसद एवं विधायिकाओं में उनके प्रतिनिधि विधिक अनिवार्यता के अन्तर्गत भेजे जाते हैं, यानी नामांकित होते हैं। राष्ट्राध्यक्ष प्रोटेस्टेण्ट पंथ का भी विधिक संरक्षक होता है। पंथ के धर्माचार्यों की सभाओं के पास प्रभूत विधिक शक्तियाँ हैं। कैथोलिक क्रिश्चियन राज्यों में भी यही स्थिति है।

प्राय: प्रत्येक पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्र में प्रत्येक विद्यानुशासन के अध्येता को अनिवार्यत: धर्मपांथिक शिक्षा दी जाती है और अधिकांश पश्चिमी यूरोपीय विद्वान पादरी या धर्मप्रचारक भी होते हैं या रह चुके होते हैं। वहाँ के दार्शनिकों की बड़ी संख्या निष्ठावान् क्रिश्चियन है। गाँव-गाँव तक फैले चर्चतन्त्र की आस्थाओं-मान्यताओं से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिचित प्रोटेस्टेण्ट अथवा कैथोलिक क्रिश्चियन नागरिकों के लिए एंग्लो–सेक्सन लॉ या अन्य क्रिश्चियन लॉ इस अर्थ में नितान्त आत्मीय विधि–व्यवस्था होती है कि वे उससे भलीभाँति परिचित होते हैं। भारत में बहुसंख्यक नागरिक विधि, न्याय एवं जीवन–दृष्टि के विषय में सनातनधर्मी नियमों–मान्यताओं से ही अवगत हैं परन्तु उनके जीवन का वैधानिक नियन्त्रण एंग्लो–सेक्सन लॉ करता है जिसके आधे–अधूरे जानकार विधि–विशेषज्ञ एवं प्रशासक हैं। विधायिका के प्रतिनिधि उस विषय में सामान्यतः अत्यल्प जानकारी रखते हैं। कितने विधायक या सांसद एंग्लो–सेक्सन लॉ के दार्शनिक, वैचारिक, आध्यात्मिक एवं न्यायिक आधारों तथा प्रयोजनों से परिचित हैं, कह पाना कठिन है। सम्भवतः एक भी नहीं, या फिर एक–दो, बस।

(2) भारत में वस्तुतः राजपुरुष किसे कहा जाएगा? निश्चय ही सैन्य अधिकारियों, प्रशासक आई.ए.एस., आई.एफ.एस. या आई.पी.एस. अफसरों को। परन्तु यहाँ किसी भी भाषा–विश्लेषणवादी दार्शनिक ने इस विकराल असत्य या भ्रांति की ओर ध्यानाकर्षण तक नहीं किया है कि भाषायी भ्रांति के कारण, यहाँ चुनाव लड़ने वाले और विधायिका में पहुँचने वाले या पहुँचना चाहने वाले लोगों को ही राजनेता कहा जाता है, जिनका बहुलांश किसी भी गहरे अर्थ में राजनेता नहीं है। राज्य के एक अंग के लिए उनके चुने जाने की व्यवस्था अवश्य है, परन्तु राज्य के अन्य अङ्गों के लिए चयन की प्रक्रिया सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार वर्तमान भारत में राजपुरुषों के कम से कम चार वर्ग हुए—(1) सैन्य अधिकारी, (2) पुलिस अधिकारी, (3) आई.ए.एस., आई.एफ.एस. आदि प्रशासक, (4) विधायिकाओं में पहुँचे प्रतिनिधि व तदुपरान्त राज्यतन्त्र के पदाधिकारी बने उनके नेता। परन्तु राजनेता कहा जाता है केवल अन्तिम वर्ग के लोगों को, जिनमें से बहुलांश राज्यतन्त्र के स्वरूप से अपरिचित ही होते हैं। भाषा की दृष्टि से भी यह बहुत बड़ा अनर्थ एवं असत्य है, भाव एवं प्रयोजन तथा सत्य की दृष्टि से भी।

निस्संदेह श्री जड़ावलाल मेहता ने प्रथम खण्ड के अपने दोनों लेखों में इतना संकेत तो किया है कि 'आधुनिक' भारतीयों ने सेकुलराइज़्ड (और इसलिए अनाम) ईसाइयत (ख्रीस्तपंथं) का अकर्मण्य और अपरावर्तित रूप स्वीकार कर रखा है, यह भी कि भारत में आंग्ल–भारतीय कानून–व्यवस्था लागू है। परन्तु उस प्रसङ्ग में उन्होंने 'पावनता के विलोप' और 'दैवी दीप्ति' के उड़ जाने की ही बात कही है जो स्वयं में मूलतः क्रिश्चियन पदावली ही है, या कहें, उससे ही प्रेरित है। उन्होंने कहीं भी इसे अधर्म, पाप, राक्षसी कर्म आदि नहीं कहा है। इसे बृहद् भारतीय समाज के कोटि–कोटि मनुष्यों का धृष्ट अपमान, उन्हें राज्य के लिए संसाधन या कच्चा माल मात्र मानने की अक्षम्य दृष्टि और राज्यकर्त्ताओं को मात्र औपनिवेशिक सत्ता–हस्तान्तरण द्वारा भारत का सर्वाधिकरी हो सकने की स्वैराचारी मान्यता से परिचालित आसुरी दम्भ का साकार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विग्रह नहीं कहा है। राज्यकर्त्ता मुख्यत: नेता कहे जाने वाले लोग नहीं हैं, यह तो मानो कोई कह ही नहीं रहा। ऐसा न लिख पाने के पीछे बौद्धिक कातरता है? या दार्शनिक अक्षमता? यह भी विवेच्य है।

संकलन में (प्रथम खण्ड में) नन्दकिशोर देवराज, सुरेन्द्र बारलिंगे, राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय, सुरेशचन्द्र और राजेन्द्र प्रसाद के लेख सेकुलराइज़्ड आधुनिक भारतीय दार्शनिकों के लेख हैं, जो प्रोटेस्टेण्ट ईसाइयत से प्रेरित बौद्धिक यात्रा की सहज परिणतियाँ हैं। सुरेन्द्र बारलिंगे के सभी लेख पठनीय हैं, विशेषकर मार्क्सवादी दृष्टि के प्रति आकृष्ट पाठकों के लिए। प्रो. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय ने आधुनिक पश्चिमी यूरोपीय दृष्टि से व्याख्या के तार्किक स्वरूप की और धार्मिक चेतना की सुन्दर मीमांसा की है, साथ ही विट्गिन्स्टाइन के दार्शनिक चिन्तन पर प्रकाश डाला है। श्री सुरेशचन्द्र ने 'दार्शनिक संशयवाद' नामक यूरो-ईसाई धारा पर 4 अच्छे लेख लिखे हैं। प्रसिद्ध क्रिश्चियन दार्शनिक स्ट्रासन के मत की भी प्रस्तुति की गई है। टूलमिन और आयर द्वारा 'लॉजिकल पॉज़िटिविज़्म' की विश्लेषण-पद्धति का परिचय भी दिया है। श्री राजेन्द्र प्रसाद के यूरो-ईसाई दार्शनिकों के भाषा-दर्शन पर 4 लेख हैं। श्री बसन्त कुमार लाल के, एक विशेष यूरो-ईसाई दर्शन-धारा—एग्ज़िस्टेंशियलिज़्म पर दो लेख हैं। तीसरा लेख कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य पर है। श्री रामचन्द्र पाण्डेय के भी 4 लेख संकलित हैं। श्री सभाजीत मिश्र ने काँट, सार्त्र और हुस्सर्ल पर लिखा है। श्री मुकुंद लाठ का मनन-योग्य आलेख है—कला-चिन्तन पर। सम्पादक के 4 लेख प्रमाण और प्रमेय पर तथा ज्ञान की स्वयं-प्रकाशता पर हैं। (मुझे प्राप्त प्रति में पृष्ठ 517 से 548 नदारद हैं—लेखक)

वेदान्त दर्शन पर श्री नारायण शास्त्री द्राविड़ के चारों लेख अति गम्भीर एवं मनन तथा विमर्श-योग्य हैं। द्राविड़ जी ने सुन्दर रीति से स्पष्ट किया है कि "न अविद्या रूप कोई कार्य है, न ब्रह्म ही कोई कारण है। 'अविद्या' यह संज्ञा विश्व के सदसद्-अनिर्वचनीय स्वरूप के लिए प्रयुक्त होती है। अविद्या कोई वस्तु नहीं है, तब उसके आश्रय का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु इस विश्व की व्यावहारिक सत्ता तो अनुभव-गोचर है ही। वेदान्त कहता है कि ब्रह्म की ही सत्ता विश्व की आभासमान् सत्ता के रूप में प्रकट होती है। शून्यवादी इस आभासमान् सत्ता के लिए अधिष्ठान की अपेक्षा नहीं स्वीकार करते। उनके अनुसार विश्व शून्य ही है। वेदान्त अन्त:प्रज्ञा के महत्त्व को जानता है। उसी अन्त:प्रज्ञा के द्वारा परम सत् की सूक्ष्म आन्तरिक अनुभूति होती है और वही चिन्तनशील साधक को परम सत् के साक्षात्कार तक ले जाती है।" यहाँ यह प्रश्न अवश्य उठता है कि समकालीन भारतीय जीवन के प्रति नितान्त निस्संग यह दृष्टि, स्वयं वेदान्त-शिक्षा के उन्मूलन की प्रभावी प्रक्रिया से भी जो निस्संग है, वह सम्यक् है क्या? तथापि प्रत्येक दार्शनिक की आत्म-मर्यादा आदरणीय है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रत्यक्ष की वेदान्तीय परिभाषा में द्राविड़ जी कहते हैं, "वेदान्त अन्तिम सत्य के रूप में विश्व के एक अंश का भी परिग्रह नहीं करता। किन्तु जब वह व्यावहारिक सत्य की छानबीन की ओर अग्रसर होता है तब इस सत्य के सभी पक्षों को वह समान महत्त्व देना ही पसन्द करता है। किसी पक्ष-विशेष का समर्थन करने की उसे आवश्यकता ही नहीं होती। अत: व्यावहारिक रूप में वह पूर्णत: यथार्थवादी है। ...जहाँ तक प्रत्यक्ष ज्ञान की बात है, न भौतिक विज्ञान, न मनोविज्ञान ही प्रत्यक्ष ज्ञान का स्पष्टीकरण दे पाते हैं। वे प्रत्यक्ष ज्ञान के अनुरूप भौतिक तथा शारीरिक परिस्थितियों का ही अंशत: उद्धार कर पाये हैं। परन्तु इन परिस्थितियों का एक आन्तरिक स्वरूप भी है जिसका प्रायोगिक अध्ययन असम्भव है।

"प्रत्यक्ष ज्ञान के क्षण में ज्ञान और विषय—इनमें जो मूलभूत चैतन्य की एकता अभिव्यक्त होती है वह शब्दातीत होती है। बाद में किये जाने वाले वर्णन में इस एकता का भंग हो जाता है, तथापि उसका आभास अवशिष्ट रहता है। अत: ज्ञान के वर्णन के लिए भी ज्ञान, ज्ञेय आदि की मूलभूत एकता का थोड़ा बहुत प्रत्यय लाने वाले शब्द ही प्रयोग में लाने चाहिएँ।...वेदान्त के अनुसार सभी वस्तुओं—मानसिक और बाह्य—दोनों का वास्तविक स्वरूप चैतन्य ही है। अत: द्रष्टा, दृश्य आदि भेद सत्य नहीं हैं। चैतन्य के रूप में सब कुछ एकरूप होते हुए भी, भिन्न-भिन्न परिच्छेदक उपाधियों के कारण कोई वस्तु द्रष्टा के तो कोई दृश्य के रूप में दिखायी पड़ती है। यह उपाधिकृत भेद सदा एक अस्थिर सन्तुलन की स्थिति में ही बना रह सकता है। प्रत्यक्षानुभव में आंशिक रूप में चैतन्य सत्ता की प्रतीति होती है जो विविध रूपों में अनुस्यूत एकता है। प्रत्यक्षानुभव में द्रष्टा और दृश्य क्षणमात्र के लिए एकरूप हो जाते हैं। चैतन्य की यही एकता 'प्रत्यक्ष ज्ञान' कही जाती है। द्रष्टा ने अपनी आत्म-भावना को आवृत करने वाली जितनी उपाधियों से मुक्ति पायी है उतना ही वह दृश्य के सन्निकट पहुँच पाता है और उसके गूढ़, गूढ़तम स्वरूप का आकलन करने में समर्थ होता है। इस ऐक्यानुभूति का एक छोर है सामान्य प्रत्यक्ष ज्ञान तो दूसरा छोर है समाधि। ऐक्यानुभूति ही प्रत्यक्ष की स्वरूप-निर्धारक है। प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान विश्वव्यापी चैतन्यमय सत्ता की ही क्षणिक प्रतीति है। प्रत्यक्ष में अनुभूत नावीन्य, चमत्कार, आनन्द आदि ब्रह्मानुभूति के ही लक्षण हैं—इसीलिए शब्दातीत है एकता की यह अनुभूति।"

संकलन का दूसरा खण्ड 'समेकित अद्वैत विमर्श' है, जिसमें सम्पादक सहित 17 दार्शनिकों के 51 निबन्ध हैं—श्री रमाकान्त त्रिपाठी के 5, श्री हर्षनारायण, श्रीरामजी सिंह और श्री उमेशचन्द्र दुबे के 4-4, श्री राममाधव चिंगले, श्री संगमलाल पाण्डेय, श्री पी. सुब्रह्मण्य शास्त्री, श्री रघुनाथ गिरि, श्री नवजीवन रस्तोगी, श्री रेवतीरमण पाण्डेय, श्री प्रकाश दुबे तथा श्री सागरमल जैन के 3-3 और श्री अभेदानन्द भट्टाचार्य, श्री सिद्धेश्वर भट्ट, श्री रजनीश कुमार शुक्ल, श्री आनन्द मिश्र एवं श्री अम्बिकादत्त शर्मा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के 2-2। अन्त में आचार्य श्याममनोहर गोस्वामी तथा श्री दयाकृष्ण के दो आलेख परिशिष्ट रूप में हैं। दयाकृष्ण जी ने 25 भारतीय दर्शन पंथों की एक 1404 ग्रन्थों की तालिका दी है जिसमें स्वैराचारी दृष्टि से कालक्रम भी उन्होंने इंगित कर रखा है जो अप्रामाणिक एवं निरर्थक है। गोस्वामी जी का उपक्रम श्लाघ्य है।

श्री सागरमल जैन के दो निबन्ध जैन-दर्शन एवं बौद्ध-दर्शन से सम्बद्ध हैं। तीसरा 'भारतीय दर्शन में सामाजिक चेतना' पर है। श्री रामजी सिंह ने जैन-दर्शन में अद्वैतवादी प्रवृत्तियाँ परिलक्षित की हैं। 'ज्ञान की सीमाएँ और सर्वज्ञता की सम्भावना' निबन्ध से ज्ञात होता है कि श्री रामजी सिंह यूरोक्रिश्चियन ज्ञानमीमांसा के प्रति श्रद्धातिरेक से मुग्ध हैं और उसके विकास से निकट भविष्य में सर्वज्ञता की सम्भावना देख रहे हैं। उनके निबन्ध वस्तुतः दर्शन के किसी परिश्रमी एवं उत्साही विद्यार्थी की वाचालता से भरे लेख हैं। उनमें दार्शनिक गम्भीरता एवं एकाग्रता का अभाव है। उनकी अपनी कोई दार्शनिक दृष्टि नहीं है, यह तो वे स्पष्ट कर ही देते हैं।

इस खण्ड के शेष सभी निबन्ध अद्वैत दर्शन के विविध पक्षों की दार्शनिक मीमांसा करते हैं, विशेषः 'मायावाद तथा लीलावाद' (श्री राम माधव चिंगले), 'स्फोटवाद' (श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री), उदयनाचार्य तथा न्यायदर्शन एवं बौद्ध माध्यमिक दर्शन पर श्री रघुनाथ गिरि के दोनों आलेख, आनन्द मिश्र का 'अद्वैत वेदान्त में साक्षी की अवधारणा' तथा श्री हर्ष नारायण के चारों, श्री नवजीवन रस्तोगी के तीनों और श्री अभेदानन्द भट्टाचार्य के दोनों निबन्ध दार्शनिक मेधा के निदर्शन हैं। श्री रजनीश शुक्ल ने 'तत्त्व बिन्दु' की शब्दार्थ मीमांसा पर एक अच्छा लेख लिखा है। श्री अरविन्द पर उमेशचन्द दुबे के लेख ठीक-ठाक हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण का तीसरा खण्ड भारतीय दर्शन के 50 वर्षों की समीक्षात्मक प्रस्तुति है। इस खण्ड का परिच्छेद तीन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसमें श्री यशदेव शल्य, श्री गोविन्द चन्द्र पाण्डे और श्री संगम लाल पाण्डेय के दार्शनिक अवदान पर तीन उत्कृष्ट लेख हैं, जिनमें से दो सम्पादक श्री अम्बिकादत्त शर्मा ने लिखे हैं, तीसरा गोविन्द चन्द्र जी पाण्डे पर श्री राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय ने लिखा है। वस्तुतः इन तीनों महान भारतीय दार्शनिकों पर इस खण्ड में कम से कम 7-7 (कुल 21) लेख होने चाहिएँ थे, परन्तु शायद लेखक मिले नहीं। सचमुच जिसे स्वातन्त्र्योत्तर मौलिक दार्शनिक चिन्तन कहा जा सकता है वह तो इन तीनों का ही है। कविराज जी और श्री अरविन्द तो इस परम्परा के पूर्व पुरुष हैं। आचार्य बदरीनाथ शुक्ल पर श्री बलिराम शुक्ल का एक उत्तम गम्भीर लेख भी इस खण्ड के इस परिच्छेद की शोभा है। परिच्छेद दो में स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन पर सात विद्वानों ने सात कोणों से लिखा है—सर्वश्री सुरेन्द्र बारलिंगे, डॉ. देवराज, हर्षनारायण जी, अशोक वोहरा, बी. कामेश्वर राव, राजेन्द्र प्रसाद एवं प्रकाश दुबे ने। शल्य जी ने लिखा है कि "हिन्दी का उत्कर्ष एक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व्यापक उद्देश्य का एक चरण ही हो सकता है।" यह सही है, केवल हिन्दी में लिखने या पढ़ने का 1947 तक तो अर्थ था, क्योंकि तब तक भारत में एक पूर्णतः यूरोख्रीस्तीकृत सेकुलर बुद्धिजीवी वर्ग का एकाधिपत्य नहीं था, आज तो हिन्दी मुख्यतः यूरोक्रिश्चियन दर्शन, विचार, विद्यानुशासन, कलानुशासन और आत्मबोध तथा विश्वबोध के स्तर पर भी केवल यूरोख्रीस्तीय भाव, छवियाँ तथा दृष्टियाँ फैलाने में अंग्रेज़ी से होड़ करती एक भारतीय भाषा-माध्यम भर बन चली है। यह हिन्दी भारत के बारे में अंग्रेज़ों से कई गुना ज़्यादा झूठ और भ्रान्ति फैलाने का माध्यम तो इन यूरोख्रीस्त सेकुलरों द्वारा बनायी ही जा रही है, यह हिन्दी भाषियों के स्मृति-भ्रंश, उनके भीतर एक छद्म व्यक्तित्व के आरोपण तथा भारत के विषय में नितान्त असत्य तथा विकृत बातों के प्रचार का माध्यम भी हो चली है। तब भी, हिन्दी का महत्त्व तो है ही, क्योंकि भारत के विषय में सत्य का व्यापक प्रसार भी उसी के द्वारा होना है—अन्य भाषाओं के साथ-साथ भी और साथ-साथ ही।

'हिन्दी के उन्नयन का अर्थ एवं सम्भावनाएँ' लेख में शल्य जी ने लिखा है, "हिन्दी के साहित्यिक क्षेत्र को मैं 1948 से देख रहा हूँ। इस क्षेत्र के लोग फ्रायड, एड्लर, मार्क्स, एंगल्स, सार्त्र आदि के नाम लेकर एक-दूसरे पर रौब डालने का प्रयत्न करते रहे हैं। इधर देरिदा इनके नये देवता हैं।...अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय एक 'हिन्दी' नामक पत्रिका अंग्रेज़ी में प्रकाशित करता है। यह हमारे आत्म-अप्रतिष्ठ होने का द्योतक है।" ऐसा सत्य लिखने-बोलने का साहस शल्य जी जैसा दार्शनिक ही कर सकता है। समकालीन हिन्दी साहित्यकारों की अपने द्वारा उद्धृत विषयों में भी कोई पैठ नहीं है, यह सुविदित सत्य है।

यहाँ मैं इतना उल्लेख अपनी निजी जानकारी से और करना उचित पाता हूँ कि स्वयं दर्शन के इस विवेच्य हिन्दी-ग्रन्थ के तीनों खण्डों में से श्री सरेन्द्र बारलिंगे ने 'मार्क्सवाद और सौन्दर्य-मीमांसा' शीर्षक से जो लिखा है, श्री सुरेशचन्द्र ने (यूरोख्रीस्त) संशयवाद पर जो लिखा है, श्री राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय ने विट्गेन्स्टाइन पर और श्री सभाजीत मिश्र ने सार्त्र पर जो लिखा है उन सबको पढ़कर समझने वाले तक इन दिनों हिन्दी के आधुनिकतावादी-उत्तरआधुनिकतावादी साहित्यिक जगत् में (अज्ञेय जी के बाद) चार-पाँच भी व्यक्ति नहीं हैं—मैं लगभग साढ़े तीन हज़ार हिन्दी लेखक-लेखिकाओं (अनेक आई.ए.एस. सहित) को जानता हूँ और पूरी ज़िम्मेदारी से यह कह-लिख रहा हूँ। 4-5 के अतिरिक्त शेष सभी बड़े-छोटे साहित्यिक नाम इसमें अक्षम हैं। यदि वे मेरी बात का प्रतिकार करें तो मैं सार्वजनिक रूप से विमर्श द्वारा सभी अधिकारी विद्वानों के सम्मुख अपनी बात प्रमाणित कर सकता हूँ। हाँ, यदि श्री यशदेव शल्य, श्री गोविन्द चन्द्र पाण्डे आदि को भी आप हिन्दी साहित्यकार ही मानते हों तो बात अलग है। परन्तु ये तो प्रधानतः दार्शनिक हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस दु:स्थिति से हम उस भयावह बौद्धिक दारिद्र्य को जान सकते हैं जो इन दिनों हिन्दी साहित्य में लबालब है। स्वयं को मार्क्सवादी कहने वाले कई दिग्गज हिन्दी-लेखकों से बात कर मैंने पाया है कि उन्होंने हिन्दी में भी छपी मार्क्स की 'पूँजी' तक ध्यान से नहीं पढ़ी है और उसके 14वें, 15वें, 16वें, 17वें अध्याय के तथ्यों से वे अनजान हैं। यह है आज हिन्दी भाषा के नामी साहित्यकारों की बौद्धिक दशा। क्या ये ही वे 'बुद्धिजीवी' हो सकते हैं जिनको श्री जड़ावलाल मेहता ने सम्बोधित किया है? स्पष्ट है कि इन लोगों की हिन्दी तो भारतीय संस्कृति एवं चेतना के उन्मूलन के लिए ही सक्रिय है, उन्मीलन के लिए नहीं। ऐसी हिन्दी का भारत की परम्परा से विरोध का ही रिश्ता है। विदेशी ज्ञान से भी इनका क्षीणतम सम्बन्ध ही है। अस्तित्ववाद या सार्त्र का नाम जपने वाले साहित्यकार सार्त्र को नहीं जानते, देरिदा का नाम जपने वाले देरिदा के सम्पूर्ण संदर्भ को नहीं जानते। इन सबको जानने वाले तो विरल ही हैं।

यहाँ मैं यह बिल्कुल नहीं कह रहा हूँ कि समकालीन हिन्दी कविता में रस या लय या प्रभावोत्पादकता नहीं है या कि हिन्दी में सृजनशील प्रतिभाएँ नहीं हैं। पर हाँ, समकालीन हिन्दी साहित्यकार जिन विदेशी विषयों का रौब मारते हैं, वे उन्हें भी व्यापकता व गहनता से नहीं पढ़ते और अधिकांशत: तो भारतीय शास्त्रों तथा महाकाव्यों को भी नहीं पढ़ते; यह ईसवी सन् 1965-1970 के बाद का तथ्य है। 'इस हिन्दी' से भारतीय संस्कृति में कुछ भी जुड़ने वाला नहीं है। हाँ, छीजने या हटने वाला अवश्य है।

अम्बिकादत्त शर्मा ने एवं उनको प्रोत्साहन तथा सहयोग देने वालों ने सचमुच हिन्दी पर थोड़ा उपकार किया है, जिसके लिए हिन्दी के वर्तमान एवं भावी अध्येता तथा पाठक निश्चय ही कृतज्ञ रहेंगे, भले ही समसामयिक साहित्यकार इन्हें नहीं पढ़ेंगे। परन्तु, इसी दृष्टि से इसमें शल्य जी और गोविन्द चन्द्र जी पाण्डे पर अनेक लेखों की आवश्यकता थी जो शल्य जी के समाज-दर्शन, चिद्-विमर्श, काव्य-विमर्श, मूल्यतत्त्व-मीमांसा तथा सत्ता-विषयक अन्वीक्षा पर विवेचनात्मक प्रस्तुतियाँ करते या पाण्डे जी की समाज, सृजन, ज्ञान, भक्ति, रस, संस्कृति, सौन्दर्य, मूल्य, काव्य, परम्परा, सभ्यता आदि भिन्न-भिन्न विषयों पर जो शास्त्रपुष्ट गम्भीर एवं श्रेयस्कर दृष्टि है, मीमांसाएँ हैं, उनकी सारत: प्रस्तुति करते, ताकि सच्चे विद्यार्थी लाभान्वित होते। शल्य जी पर अम्बिकादत्ता जी का लेख उत्तम स्तर का एक श्रेष्ठ लेख है, जो पठनीय है परन्तु गोविन्द चन्द्र पाण्डे जी के संस्कृति-दर्शन की सम्यक् प्रस्तुति राजेन्द्र प्रसाद जी जी के लेख में नहीं हो पायी है। तब भी, वह लेख महत्त्वपूर्ण तो है ही। परन्तु इन दोनों श्रेष्ठ दार्शनिकों पर इन खण्डों में अपर्याप्त, अत्यल्प सामग्री है, यह दु:खद है। श्री संगमलाल पाण्डेय की ज्ञानमीमांसा पर अम्बिकादत्त जी का लेख प्रशंसा का अधिकारी है, उन्होंने संगमलाल जी की ज्ञानमीमांसा को सम्यक् रूप में रखा है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'दयाकृष्ण का समाज–दार्शनिक विमर्श' यशदेव जी शल्य का आलेख है, यह कहने में ही यह निहित है कि यह एक उत्कृष्ट दार्शनिक समीक्षात्मक निबन्ध है। यद्यपि शल्य जी को ईसाइयत का एवं मार्क्सवाद का प्रामाणिक ज्ञान नहीं है, यह इस निबन्ध में प्रकट है, परन्तु समीक्षा की समीक्षा यहाँ प्रयोज्य नहीं है, अत: उस पर फिर कभी। शल्य जी प्लेटो, अरस्तू की तथा रेनेसां के बाद के पश्चिमी यूरोपीय दार्शनिकों की सम्यक् समझ रखते हैं परन्तु इस्लाम, ईसाइयत और मार्क्सवाद की नहीं। फलस्वरूप पश्चिमी यूरोपीय दार्शनिकों के चिन्तन के मूल में सक्रिय ख्रीस्तपंथीय आस्था से भी वे अनजान हैं। तथापि उनके दार्शनिक पक्षों की उन्होंने सुन्दर मीमांसा की है। जबकि दयाकृष्ण जी ने तो शायद किसी भी दर्शनधारा के मूल ग्रन्थों को गम्भीरता एवं समग्रता से नहीं पढ़ा, अत: उनकी टिप्पणियों में प्रातिभ कौंध तो है, एक भी गम्भीर और प्रामाणिक प्रतिपादन नहीं है। दयाकृष्ण के खिलन्दड़ स्वभाव को ध्यान में रख कर ही उन्हें पढ़ना चाहिए। वे एक बहुत अच्छे एवं बहुपठित शिक्षक हैं जो शिष्य की बुद्धि को उत्प्रेरित करने की अद्भुत सामर्थ्य रखते हैं, पर वे किसी भी एक दार्शनिक अनुशासन के अधिकारी विद्वान नहीं हैं। शल्य जी ने उन्हें बड़ी गम्भीरता से लिया है, सम्भवत: सखा–भाव के कारण। बहरहाल, इस गम्भीर समीक्षा में शल्य जी जिन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं उनकी बानगी पाठकों के लिए रोचक होगी, यह मानकर यहाँ दी जा रही है—

(1) दया जी द्वारा समाज का यह निरूपण *अयुक्त और आत्म–असंगत है* (खण्ड 3, पृष्ठ 183)।

(2) दया जी द्वारा समाज को आत्मचेतन चयनों का फल कहना *भोले भाव की पराकाष्ठा* ही कही जा सकती है। 'आत्मचेतन चयन का फल' आत्म–सर्जन नहीं है और 'अवधारणाओं का फल' को 'चयन का फल' नहीं कहा जा सकता है (वही, पृष्ठ 184)।

(3) समाज को आत्मचेतन कर्म की कृति कहने की *अयुक्तता स्पष्ट है* (पृष्ठ 184)।

(4) दया जी ने समाज को 'अप्राकृतिक' बताया है किन्तु *प्रकृति के स्वरूप पर वे कहीं भी गहराई से विचार नहीं करते* (वही, पृष्ठ 185)।

(5) दया जी ने 'मैन' शब्द बड़े 'एम' अक्षर के साथ लिखा है, पर कहीं यह स्पष्ट नहीं किया है कि इससे उनका अर्थ क्या है, व्यक्ति, जाति, चेतना का स्तर–विशेष या कुछ और? (पृष्ठ 185)

(6) वे समाज और प्रकृति की विपरीतता पर ही बल देते हैं, यह भूल जाते हैं कि आधुनिक वैज्ञानिक की प्रकृति एक विशेष पूर्वग्रहमूलक प्रकृति है (पृष्ठ 187)।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(7) दया जी पाश्चात्य समाज और भारतीय समाज के दो भिन्न-भिन्न अतिवादों का निरूपण करते हैं, पर वह *निरूपण बहुत सतही है* (पृष्ठ 188)।

(8) सुकरात असत्य पर आधारित न्यायिक निर्णय द्वारा कारागार भेजा गया; पर भागने का अवसर पाकर भी भागा नहीं, यह दया जी के अनुसार सामाजिकता को परमता का स्थान देना था। परन्तु यह सही नहीं है। यह तो आत्मा को सर्वोपरि मानने से उत्पन्न उच्च नैतिक कर्म था (पृष्ठ 188)।

(9) दया जी मानते हैं कि व्यक्ति को समाज के प्रति उत्तरदायी मानने का विचार भारत में नहीं मिलता, मार्क्सवाद आदि यूरोपीय समाज-चिन्तकों में ही मिलता है। परन्तु हमारे यहाँ तीन ऋणों के रूप में यह विचार प्रतिष्ठित मिलता है। (पृष्ठ 190-191)।

(10) भारतीय सभ्यता और संस्कृति को दया जी ने समाज-केन्द्रक के विपरीत आत्म-केन्द्रक माना है, जिसका मुख्य लक्ष्य उनके अनुसार, 'अन्य के प्रति चिन्ता' का अधिकतम अवमूल्यन है। परन्तु यह लक्षण या वैशिष्ट्य ऐसा ही है जैसा मनुष्य को उसकी 'हँसने की योग्यता' से परिभाषित करना (पृष्ठ 191)।

(11) दया जी अवतार और बोधिसत्त्व की अवधारणाओं को अपवाद कहते हैं, जबकि वास्तव में ये अवधारणाएँ काव्य, पुराण और सामान्य जन-जीवन की प्राण हैं। साथ ही, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र इसी जीवन्त ब्राह्मण-मानस की उपज हैं (पृष्ठ 191)।

(12) दया जी का निष्कर्ष है कि 'भारतीय संस्कृति नैतिक नहीं होकर, अतिनैतिक है', परन्तु *हम इस निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं।* भारतीय संस्कृति में नीति की अवहेलना नहीं होकर, उससे उच्चतर भूमि पर आरोहण की दृष्टि है। नीति की परिभाषा 'परहित चिन्ता' नहीं की जा सकती। यह परिभाषा 'आत्मसिद्धि' करना अधिक उपयुक्त है (पृष्ठ 192)।

(13) काँट के नीति-विषयक सभी सूत्र संस्कृत के नीति विषयक सुभाषित-संग्रहों में मिल जाएंगे (अतः 'भारतीय संस्कृति' को 'नैतिक नहीं' बताना ग़लत है।) (पृष्ठ 192)।

(14) भारत के दार्शनिक नीति को केवल स्मृतिकारों का विषय मानते थे। वे नैतिक आचरण को सामाजिक परम्परा द्वारा निर्धार्य मानते थे और नीति का तत्त्व आत्म-साधना में मानते थे। जहाँ तक दार्शनिकों द्वारा नैतिक चिन्तन का प्रश्न है, अनुभववाद ने नैतिक बोध को निराधार अथवा 'अविचार्य' माना है और मनोविश्लेषण, अस्तित्ववाद, फिनॉमिनालॉजी आदि में नैतिक बोध के प्रति असहानुभूति की कोई कमी नहीं है (पृष्ठ 193)। (अतः दया जी की भारत-विरोधी स्थापनाएँ पूर्वग्रहपूर्ण, पक्षपातपूर्ण एवं अज्ञानमय हैं, यह निहितार्थ यहाँ है—लेखक)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(15) दया जी का तीसरा व्याख्यान कर्म पर है, कर्म–विषयक हिन्दू दृष्टि पर। किन्तु उस दृष्टि का भी *यह नितान्त अपर्याप्त और कुछ स्थलों पर अयुक्त निरूपण है* (पृ. 193)।

(16) गीता में 'निष्कामता' का अर्थ 'निष्प्रयोजनता' है, ऐसा *दया जी ने पता नहीं किस आधार पर समझा है।* इसका अर्थ केवल प्रयोजन–सिद्धि के प्रति निरुद्विग्नता है। एक साधारण स्तर पर 'स्पोर्ट्समेन्स स्पिरिट' में भी यह स्पष्ट है। अन्यथा कोई कर्म निरुद्देश्य किया ही कैसे जा सकता है? हम उठकर चलेंगे भी तो या तो कहीं पहुँचने के लिए चलेंगे या फिर भ्रमण के लिए चलेंगे, जब तक इतने विक्षिप्त नहीं हों कि बस यों ही उठकर चल दें। इस 'यों ही चलने को' तब 'कर्म' नहीं कहा जाएगा। निष्कामता का ही दूसरा नाम 'भगवत्–समर्पण भाव' है—कर्म को ईश्वर का आदेश मानकर करना और परिणाम को प्रयत्न के विरुद्ध पाकर उद्विग्न नहीं होना। इस प्रकार 'ईश्वरार्थता' 'निष्कामता' की व्याख्या मात्र है (पृष्ठ 194–195)।

(17) दया जी ने गीता में कृष्ण द्वारा अर्जुन के शोक को 'अशोचनीय के लिए शोक' कहे जाने पर तीखी आलोचना की है। उस पर शल्य जी लिखते हैं, "अर्जुन का विषाद बन्धु–बान्धवों के तथा समाज के दुःख के प्रति उपजी पर–दुःखकातरता थी, दया जी का यह तर्क सही है, परन्तु पर–दुःखकातर होना और उससे प्रेरित होकर कुछ करना मानवीय है, अकातर भाव से, अपने को निमित्त मानकर करना अतिमानवीय है।" अतः कर्म–फल को वैश्व व्यवस्था या प्रभु की लीला मानकर दुःखी लोगों के दुःख–निवारण के लिए निरुद्विग्न भाव से अग्रसर होना उच्चतर नैतिकता है, बनिस्बत पर–दुःखकातर भाव से कर्म–प्रवृत्ति के (पृष्ठ 195–196)।

(18) चौथे व्याख्यान का शीर्षक है 'स्वातन्त्र्य के परिप्रेक्ष्य'। स्वातन्त्र्य का स्वरूप वे अन्य के पराभव में देखते हैं। उनके अनुसार वेदान्तीय स्वातन्त्र्य 'अन्य' के 'निषेध' में है और फ़ाउस्तीय (पाश्चात्य) स्वातन्त्र्य 'अन्य' के 'नाशन' में है। *इनका औचित्य दया जी ने नहीं बताया।* स्वातन्त्र्य की इस अवधारणा के अनुसार समाज की विद्यमानता स्वातन्त्र्य में बाधा की विद्यमानता होगी।...यदि पश्चिम का इतिहास "एक पक्ष द्वारा दूसरे को निरन्तर पराभूत करने के प्रयत्न का इतिहास है, तब भारत का इतिहास संघर्ष से बचने के प्रयत्न का इतिहास होगा। किन्तु ऐसा है नहीं।" (पृष्ठ 197)

दया जी के अनुसार भारतीय इतिहास में युद्ध 'चाहे कितने भी उग्र और सुदीर्घ रहे हों, पर ये कभी सिद्धान्तों के आधार पर नहीं लड़े गये, जैसे पश्चिम में।' किन्तु इसके लिए प्रमाण?...भारत में रामायण और महाभारत के युद्ध आदर्शों और मूल्यों के लिए ही लड़े गए थे। रामायण का युद्ध सामाजिक मर्यादा की रक्षा के लिए मर्यादा–ध्वंसकों के विरुद्ध लड़ा गया था, महाभारत का युद्ध न्यायसंगत अधिकारों की रक्षा के लिए।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निकटवर्ती इतिहास में गुरु गोविन्दसिंह, शिवाजी और महाराणा प्रताप शुद्ध रूप से विचार और आदर्श के लिए युद्ध लड़े। (पृष्ठ 197–198)

दयाकृष्ण जी के समाज–दार्शनिक विमर्श पर इन 18 टिप्पणियों के बावजूद शल्य जी को दया जी की समाज–विषयक दृष्टि पूर्णतः युक्त प्रतीत होती है, अस्तु।

इस खण्ड में अन्त में दो परिशिष्ट हैं। एक है श्री कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के 'स्वराज इन आइडियाज़' का डॉ. प्रतापचन्द्र कृत प्रामाणिक अनुवाद 'वैचारिक स्वराज', जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दार्शनिक व्याख्यान है, जिस पर विस्तार से चर्चा अपेक्षित है। दूसरा भारतीय दर्शन के 50 वर्षों पर केन्द्रति एक परिचर्चा के रूप में है, जो रोचक है। अन्त में लेखकीय परिचय है। यों, इस तीन खण्डों में प्रकाशित निबन्ध–संग्रह के सम्पादक निश्चय ही साधुवाद के योग्य हैं। परन्तु विश्वविद्यालयी आपाधापी के मध्य किया गया यह सम्पादन कई दृष्टियों से आतुरतापूर्ण किंवा प्रमादपूर्ण भी है। इन तीनों खण्डों में समकालीन भारत के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक श्री यशदेव शल्य की आधारभूत स्थापनाओं को पर्याप्त स्थान क्यों नहीं दिया गया? इसका कोई भी उचित उत्तर मिल पाना सम्भव नहीं दिखता। भाषा–विश्लेषण, अस्तित्ववाद आदि पर यथोचित सामग्री संकलन की ओर जितना ध्यान दिया गया, कम से कम उतना ध्यान तो शल्य जी के आधारभूत दार्शनिक चिन्तन की प्रस्तुति की ओर देना आवश्यक था। विशेषकर उनकी सत्ता–मीमांसा, ज्ञान–मीमांसा एवं मूल्य–मीमांसा की पर्याप्त चर्चा के बिना भारतीय दर्शन के पचास वर्षों की कोई भी चर्चा सार्थक नहीं कही जा सकती। शल्य जी के जो लेख लिये गए हैं वे आधारभूत दार्शनिक चिन्तनपरक नहीं हैं। उनकी दार्शनिक प्रौढ़ता की अवधि विगत 35 वर्षों की है। इस अवधि में उनका दार्शनिक योगदान अद्वितीय है। उसकी विशद मीमांसा के बिना भारतीय दर्शन के 50 वर्षों की चर्चा व्यर्थ है। यह विमर्श भी आवश्यक था कि समकालीन भारतीय दार्शनिकों ने उनकी आधारभूत स्थापनाओं पर क्या अन्तःक्रिया की। की भी या नहीं? यदि नहीं तो इसका कारण प्रमाद है? या यह है कि उस विवेचना से दर्शन के सरकारी (तथाकथित स्वायत्त परन्तु सोवियत कम्युनिस्ट मॉडल पर गठित भीषण नियन्त्रणवादी) तन्त्र से कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता अतः क्यों किया जाए? यद्यपि ऐसी विवेचना पर कोई रोक नहीं है। अस्तु, यहाँ शल्य जी की कतिपय दार्शनिक स्थापनाएँ दृष्टान्त रूप में प्रासंगिक होने से उल्लेख करना सम्यक् होगा—

(क) दर्शन के आरम्भ–बिन्दु विषयक

(1) चैतन्य में विषयोन्मुख एवं आत्मोन्मुख दोनों गतियाँ देखी जा सकती हैं। विषयोन्मुखता में चैतन्य स्व–वृत्ति अनुसार स्व–विषय का आक्षेप कर उससे अवियोज्य रूप से सम्बद्ध हो जाता है। आत्मोन्मुख वृत्ति द्वारा चैतन्य अपने को विषय से विच्छिन्न

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कर उसे प्रेक्षणीय और स्वयं को प्रेक्षक रूप में स्थापित करता है। निर्विकल्पकता की साधना चैतन्य के उस आत्मोन्मुख निवर्तन के अन्तर्गत ही प्रयोजनीय होती है जो ऐन्द्रिय के ऊपर बौद्धिक विकल्पों का साक्षात्कार करता है। बौद्धिक विकल्प भी चेतना को पराङ्मुख रखते और बाँटते हैं, परन्तु ये अपने अर्थों में जटिल और गम्भीर होते हैं। ऐसी बुद्धि में प्रेक्षकत्व की शुद्धता रहती है, जो इन्द्रिय–विषयों में अनुपस्थित रहती है।

(2) बौद्धिक प्रत्यय अदेश–कालिक होते हैं, इसे स्वीकार करने का अर्थ है यह स्वीकार करना कि देश–काल अस्तित्व के लिए अनिवार्य नहीं हैं।

(3) प्रत्ययों का अवगाहन करने के क्रम में सन्ततियों और सम्प्रदायों का निर्माण होता है।

(4) एक प्रतीक–व्यवस्था के रूप में एक भाषा अपने आप में एक पूर्ण गत्यात्मक वृत्त होती है, जिसके भीतर के सभी अंश उस वृत्त की गतिमान वर्तुलता से अन्त:प्रविष्ट रहते हैं। इस प्रकार किन्हीं भी दो स्वतन्त्र भाषाओं के वाच्य समान नहीं हो सकते। तब भी एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद किसी सीमा तक सम्भव है।

(5) चैतन्य जितना ही आत्मोन्मुख निवर्तित होता है, उसके विषयों का तत्त्व :तथता: उतना ही परिशुद्ध होता है।

(6) आकार और अन्तर्वस्तु की अन्योन्यात्मकता और परस्पर प्रकाशकता ही पारदर्शिता है।

(7) बौद्धिक चैतन्य : बुद्धि–रूप उपाधि में प्रकट चैतन्य : के लिए व्यक्ति–रूप उपाधि अनिवार्य नहीं है।

(8) 'आत्मसम्बद्धता' का अर्थ व्यक्तिपरकता नहीं है। 'आत्म' का अर्थ व्यक्ति नहीं है। चैतन्य का आत्मोन्मुख किसी भी प्रकार का संक्रमण : वह ज्ञानात्मक हो, कलात्मक हो या मननात्मक हो, आणविकता का अतिक्रमण करता है : ज्ञान में विषयिनिष्ठता का, कला में वैयक्तिक विषयिता का और मनन में एषणाओं का। इसीलिए जो लोग आध्यात्मिक मूल्यान्वेषण को : जैसे भक्ति या साधना को : व्यक्तिपरक समझते हैं वे 'आत्म' और 'व्यक्ति' को एक समझने की भूल करते हैं। वास्तव में भक्ति ईश्वर में, मोक्ष निरुपाधिक चैतन्य में और नीति समाज में वैयक्तिक अहंकार के अतिक्रमण की साधना है।

(9) चैतन्य की आत्मोन्मुख ज्ञानात्मक विधा में चैतन्य सत् के प्रकाशन द्वारा अपनी सिद्धि पाता है, कलात्मक व मननात्मक विधाओं में वह अपने ही निहितार्थों का व्याख्यान करता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(10) हम सत् को कोई भी नाम कैसे दे सकते हैं? इसे 'भौतिक' कहना इन्द्रियोपाधि को मानदण्ड बनाना है और प्रत्यय-विषय कहना बुद्ध्युपाधि को। परन्तु ये दोनों विषयता के दो रूप मात्र हैं।

(ख) विज्ञान और दर्शन विषयक

(1) विज्ञान (साइंस) में चैतन्य की आत्मोन्मुखता परार्थ : विषयार्थ : होती है। विज्ञान में ज्ञान अपना अतिक्रमण विषय में करता है। दर्शन में ज्ञान अपना अतिक्रमण अपनी आत्मोन्मुख गति में ही करता है। इस प्रकार वह विषय को उसकी मूलाग्र अवधारणाओं में, अवधारणाओं को उनकी मूलाग्र चिद्वृत्तियों : चित् की उपाधियों : में और इन उपाधियों को उनके मूलाग्र निरुपाधिक चैतन्य में आविर्भूत होते देखता है। इस प्रकार दर्शन गोचर लोक, प्रत्यय लोक, भावना लोक और मनन लोक—सबकी सृष्टि होते देखता है और उसका विमर्श तथा मनन करता है, जबकि विज्ञान (साइंस) का सम्बन्ध ज्ञान के मूल से नहीं होकर ज्ञान-विषय से होता है। विज्ञान संकुचित प्रयोजन से संकुचित विषय का ही चुनाव करता है, जबकि दर्शन पूर्ण को अपना अन्वेष्य बनाता है, जिसके लिए उसके पास विचार का उपकरण कभी पर्याप्त नहीं हो सकता।

(ग) मनुष्य और जगत् विषयक

(1) मनुष्य, अथवा कहें मानव चैतन्य, जबकि अपने को सबसे अधिक समीपता से और प्रामाणिकता से जान सकता है, वह सबसे कम अपने को ही जानता है। उसे यदि कुछ सर्वाधिक अनुपलब्ध रहता है तो वह उसका अपना स्वरूप ही है। यह एक विचित्र तथ्य है, अत्यधिक रहस्यपूर्ण। जबकि यह अनवगाह्य मनुष्य अन्य सब विषयों की तुलना में हमारे समीपतर है, हमारे से इसकी दूरी केवल जानने की अपेक्षा से आरोपित दूरी ही है। अन्यथा वह हमसे अभिन्न है।

(2) प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रश्न पर विचार तब तक मूलग्राही नहीं हो सकता जब तक वह मनुष्य और जगत् अथवा चैतन्य और जगत् के सम्बन्ध में भलीभाँति विचार नहीं करे।

(3) जगत् को मात्र देश और काल के विस्तार में विजड़ित उदासीन : नितान्त बाह्य : विषयों के रूप में देखना अत्यन्त संकुचित अर्थ में देखना है।

(4) निरपेक्ष तत् का जगद्रूप में आविर्भाव किसी विषयी की अपेक्षा से ही हो सकता है। विषय के रूप में जगत् किसी विषयी का अपेक्षी है। वास्तव में विषयी के बिना उसका यह रूप सम्भव नहीं हो सकता। अविषय रूप में अवश्य यह विषयी के अभाव में भी रह सकता है। विषयी केवल जगत् की सापेक्षता में ही विषयी है। विषयीभाव मेरा कोई अनिवार्य धर्म नहीं है। साथ ही, मैं विषयी रहते हुए भी अपना ही विषय भी हो सकता हूँ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(5) निरपेक्ष वस्तुता का आधार वास्तव में द्रष्टा पक्ष में अहंकार का अतिक्रमण है, न कि विषय पक्ष में विषयी से निरपेक्ष दैशिकता। किन्तु मनुष्य जगद्-भावापन्न चेतना है, वह शुद्ध, पूर्णतः निरहंकार द्रष्टा या भोक्ता नहीं है। दूसरे शब्दों में वह जगत् के प्रति राग-वृत्ति के अधीन साहंकार चेतना है। यद्यपि इस भाव में भी वह निश्शेषतः नहीं होता है।

(6) जगद्भाव से व्यवच्छेद की योग्यता मानव-स्तरीय चेतना में सहज है। किन्तु इस योग्यता के विकास के लिए भाषा के आश्रय की अपेक्षा होती है। भाषा की सत्ता अतिवैयक्तिक बुद्धि की अभिव्यक्त सत्ता है। वाक्यपदीय के शब्दों में इसे परावाक् का विवर्त कहना अधिक उपयुक्त होगा। मनुष्य का व्यवच्छिन्न जगद्भाव प्रथमतः इस सत्ता से ही व्यवहित होता है, यद्यपि अनन्तर कर्तृ, भोक्तृ बुद्धि की साधना से यह भाव इस व्यवधान का लय खोजता है।

(7) चित्सत्ता के अतिवैयक्ति आविर्भाव पाशव स्तर पर भी उपलब्ध होते हैं। मधुमक्खियों का छत्ता और चींटियों की बस्तियाँ इस प्रकार के आविर्भाव हैं। किन्तु ये पाशवस्तरीय अतिवैयक्तिक सत्ताएँ पशु के जगद्भाव को और दृढ़ ही करती हैं। मनुष्य में पाशवस्तरीय अतिवैयक्तिता से मुक्ति वैयक्तिक वैशिष्ट्य के रूप में प्रकट होती है किन्तु वैयक्तिक वैशिष्ट्य का अर्थ वासना, उद्वेग आदि में व्यक्ति-भेद नहीं है, जैसा कि सार्त्र ने समझा है। उस प्रकार का भेद पशुओं और पौधों में भी मिलता है। सहज प्रवृत्ति इस प्रकार के भेद को समाप्त नहीं कर सकती। कोई दो कुत्ते एक जैसे नहीं भौंकते। किन्तु ये वैशिष्ट्य शारीरिकी (फ़िज़ियालॉजी) के सामान्य नियम के अपर्याप्त उदाहरण रूप होते हैं, वैयक्तितामूलक नहीं। वैयक्तिक वैशिष्ट्य का अर्थ निरहंकारता की सिद्धि में स्तर-भेद है।

(8) सार्त्र मनुष्य में भी जगत् से केवल रागात्मक सम्बन्ध को ही देखता है और इसमें भी केवल विरोधात्मक प्रकार के, अर्थात् आशंका, भय, असुरक्षा, प्रतिरोधपरकता के सम्बन्ध ही उसका ध्यान आकृष्ट करते हैं। किन्तु मनुष्य का जगत् से सम्बन्ध रागात्मक ही नहीं, विरागात्मक और राग-विरागात्मक प्रकार का भी होता है और इस सम्बन्ध में मूलित जगत् को, जिसकी प्रतिष्ठा अहंकारातिक्रमण और पुरुषोल्लेखिता में है, विरोध और प्रेम से परे, सर्वथा आत्मसर्जन का क्रम कहा जा सकता है।

(9) हम जगद्भाव को प्राप्त चैतन्य हैं किन्तु यह भाव चेतना के लिए अनिवार्य नहीं है। इसकी निवार्यता इसकी आगन्तुकता को प्रकट करती है। जबकि जगदुन्मुख अन्तःकरण और बुद्धि जगद्भाव का अनेकधा संवर्धन करते हैं।

(10) संवेद का अनुभूति में ग्रहण और अनुभूति तथा संवेद पर विचार तथा विचार पर विचार—अहंकार के क्रमिक अतिक्रमण हैं, तथापि ये अहंकार के अन्तर्गत

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ही स्तर-भेद हैं। इनकी उन्मुखता विषयपरक होने पर ये निम्नतर अवस्थाओं की पुष्टि ही करते हैं। यह उन्मुखता जगदुन्मुखता है। परन्तु अहंकार और जगदुन्मुखता पर विचार, विचार होने पर भी, इनसे पराङ्मुखता है। प्रयोज्य मात्र पर संदेह आनुभूतिक और बौद्धिक स्फुरण होने पर भी जगन्निवर्तक हैं और यह जगत्-पराङ्मुखता तथा निवृत्ति उतने ही तथ्य हैं जितना जगद्भाव तथ्य है। जगद्भाव चैतन्य की जागतिकता को प्रकट करता है, जगन्निवृत्ति आत्म की जगद्बाह्यता की प्रकाशक बनती है। दोनों ही भाव चैतन्य के ही भाव हैं। आत्म की जगद्बाह्यता का अर्थ है कि जगद्भाव आत्म-भाव नहीं है। किन्तु जगद्भाव में स्पष्टतः आत्म-भाव रहता है—अतिक्रामी भोक्ता के रूप में, विषयों के विनियोजक के रूप में। यह विनियोजक आत्म काँट के अतिक्रामी आकारों का समकक्षी नहीं है। यह जगद्भावापन्न आत्म है जो इस भाव से निवृत्त भी हो सकता है। किन्तु जगद्भाव में आत्म प्रकट नहीं रहता, वह विषय-विनियुक्त रहता है। विचार, भाव और वस्तुएँ इसे तन्नियुक्त और आत्मबहिष्कृत रखती हैं। देहेन्द्रियाधिष्ठित आत्म तो मात्र सांवेदनिक भाव को ही प्राप्त रहता है।

(11) ह्यूम के समान ही बौद्धों ने भी आत्मा को कल्पना कहा है। उनके अनुसार यह संस्कार-प्रवाह मात्र है। किन्तु यह केवल विषयात्म का, मनोवैज्ञानिक अहंबोध का निरूपण है, जिस पर आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु आत्मा न संवेद्य विषयों में एक विषय के रूप में अभिप्रेत है, न मनोवैज्ञानिक स्तर के अहम्परक अनुभव के रूप में, न संस्कार-प्रवाह के संयोजन के ही रूप में। जगद्भाव की अवस्था में यह आहंकारिक उपाधियों के रूप में अभिप्रेत है और जगन्निवृत्ति की अवस्था में यह उस अनिवार्यता के रूप में अभिप्रेत है जो सब आगन्तुकताओं का अतिक्रमण कर उन्हें उस नाम से अभिहित करती है, अथवा कहें उस बोध के लक्ष्य के रूप में अभिप्रेत है जो आहंकारिक उपाधियों की अनात्मता को प्रकट करता है। भोजन की इच्छा, शेर से भय और इस इच्छा का निरोध तथा निर्भयता की सिद्धि, चारों मनोवैज्ञानिक हैं, किन्तु इनके स्वरूप मूलतः भिन्न हैं। निरोध के प्रयत्न भाग की मनोवैज्ञानिक व्याख्या सम्भव है किन्तु इस प्रयत्न के अर्थ या प्रयोजन की मनोवैज्ञानिक व्याख्या सम्भव नहीं होगी। यह प्रयत्न विषयोत्तरपरक है और विषयोत्तरता में ही मूलित है। जगद्भाव की सार्थकता में संदेह और जगन्निवृत्ति की सिद्धि आत्मा की जगद्बाह्यता की सूचक है। इस प्रकार जगत् आत्मा की ही आत्मपराङ्मुख वृत्ति के रूप में प्राप्त होता है। जगत्प्रवृत्ति और जगन्निवृत्ति आत्मा के सहज व्यापार हैं। जगत्प्रवृत्ति सहज होने पर भी आत्मा की स्वरूप-भ्रष्टता है, क्योंकि जगत् विषय के रूप में और जगद्भाव के रूप में भी आगन्तुक और संदिग्ध है। जगत् के अन्तर्गत विशिष्ट वस्तुएँ ही नहीं, जगत् अपनी समग्रता में भी जो है उससे अन्यथा होना सम्भव है। इसका अभाव होना भी सम्भव है। जब मैं जगत् के सन्धारक के रूप में, विनियोजक के रूप में अपने ही अस्तित्व को आगन्तुक पाता हूँ तब इसका

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

छूँछापन, असद्रूपता रेत के घरौंदे की असद्रूपता से भी अधिक मुखरता के साथ प्रकट हो जाती है। आगन्तुकता जगत् के और मेरी जागतिकता के असद्भाव को प्रकट करती है।

(घ) एषणाएँ, आत्माकाँक्षा और उनकी अनात्मता विषयक

(1) एषणाएँ आत्मा के देहेन्द्रिय-अधिष्ठान का परिणाम होती हैं, अर्थात् इनका अनुभव आत्माकांक्षा के रूप में होता है। तब, इन एषणाओं की निग्रहोचितता का बोध क्या आत्मा की निग्रहोचितता का बोध है? वह किस सिद्धि के प्रयोजन से हो सकता है? स्पष्ट है कि निग्रहोचितता का यह बोध आत्मा के निग्रह का अङ्ग नहीं है, यह आत्मा की औपाधिकता का व्यंजक मात्र है। उसका अर्थ किसी एषणा के अभाव की अनुभूति का, और अभाव की पूर्ति का भी, मात्र प्रातीतिक होना है। प्रतीति यह कि अमुक अभाव आत्मपरक है और उसकी पूर्ति आत्मपूरक होगी। इस प्रकार देहात्मता और इन्द्रियात्मता की अनात्मता या औपाधिकता प्रकट होती है। नैतिक बोध का आधार इस अनात्मता का बोध ही है, जो कि मनुष्य में आदिमतम अवस्थाओं में भी पाया जाता है—देहेन्द्रियादि स्तर की पूर्ति की अनात्मता का बोध। नैतिकता का मूल देहेन्द्रियमूलक एषणाओं की निग्रहोचितता का बोध है।

(2) स्मृति में विषयों का कालातीत संग्रह काल के मूल्यात्मक आयाम को सम्भव करता है। मूल्य उत्कर्ष-साधना का प्रयत्न है, जो पूर्ति के परिष्कारात्मक-संशोधनात्मक संदर्भ को जन्म देता है। परिष्कार विषय-सम्बद्ध और आत्म-सम्बद्ध दोनों प्रकार का होता है परन्तु वस्तुतः सब परिष्कार अन्ततः आत्म-सम्बद्ध ही होता है, अतः विषय-परिष्कार परोक्षतः आत्म-परिष्कार ही है। आत्मा के अन्यथाभाव पर मनन के फलस्वरूप पश्चात्ताप होता है जो अपने सम्मुख अपनी स्वरूपभ्रष्टता को प्रकट करता है। जो मद्गत आत्म-विसंगत है, जो आत्म के अन्तर्गत उसका बाधक है, उसकी निराकरणीयता का बोध है पश्चात्ताप और खेद। ये अनात्म-विवेक के और आत्मबोध के क्षण होते हैं। इन पर मनन जगद्भाव मात्र की आगन्तुकता, निरर्थकता, निवारणीयता और इस प्रकार अनात्मता को प्रकट करता है। निवारणीय आत्म अनात्म है। अनात्म आत्मगत दोष है और उसका निवारण आत्मप्रापक होता है।

(3) दोष का बोध अदुष्टता के बोधपूर्वक होता है जिससे आत्मा की स्वरूपगत अदुष्टता सिद्ध होती है। किन्तु आत्मगत दोष का बोध वास्तव और भाव्य के बीच तनाव का बोध है। अदुष्ट हमारा परमार्थ है, परमार्थतः स्वरूप-सत् है, किन्तु सिद्ध नहीं है, भाव्य या साध्य है। अनात्म भाव है, सिद्ध है, किन्तु निवारणीय है, अतः असत् है। भाव और भाव्य के बीच सब तनावों का अन्तिम अधिष्ठान आत्मा और अनात्म के बीच तनाव में है क्योंकि सब अपूर्णताएँ आत्मलक्षी होती हैं। आत्मा भाव्य-सत् है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(ङ) चैतन्य के जगद्विवर्त विषयक

(1) चैतन्य को परिभाषित नहीं किया जा सकता, क्योंकि परिभाषा अवधारणामूलक होती है और अवधारणा चैतन्य की पूर्वापेक्षी होती है। अथवा चैतन्य को 'पूर्वापेक्षा' से भी परिभाषित किया जा सकता है, अर्थात् जो कुछ भी है सब चैतन्य का पूर्वापेक्षी है, चैतन्यपूर्वक है। किन्तु 'पूर्वापेक्षा' को अवधारणा के रूप में समझा जाना व्यत्यय-दोष होगा। इस प्रकार चैतन्य अपरिभाष्य है। विचार चैतन्य का केवल एक आकार है। विचार में चैतन्य के उपादान होने से विचार इसे अपने आकार में आकलित नहीं कर सकता, न वह अपने से अन्य आकारों का ही आकलन कर सकता है। तब चैतन्य के विचारेतर आकार—जैसे ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनुभूति कैसे परिभाषित होते हैं? क्योंकि तब विचार का आकार अन्य आकारों का अपने आकार में रूपान्तरण कर लेता है। अत: कहा जा सकता है कि परिभाषा में चैतन्य का विचार-रूप ही प्रकट होता है, अन्य रूप अपरिभाष्य रहते हैं। चैतन्य भाषा और विचार का आधार है। संवेद भी चैतन्य का उसी प्रकार एक आकार है, जिस प्रकार विचार है। पहला वेदनाकार है, दूसरा बुद्ध्याकार। जीव में चैतन्य का संवेदाकार आद्य और मौलिक होता है और वह सब आकारों के साथ संयुक्त रहता है। प्रत्यक्ष, विचार, वासना आदि जीव में जब घटित होते हैं संवेदपूर्वक ही घटित होते हैं। संवेद निर्विषय होता है। पर शुद्ध संवेद की स्थिति जीव में सुषुप्ति के सिवाय शायद ही रहती हो। वासना चैतन्य को विषय से सम्बद्ध करती है किन्तु उसका विशिष्ट लक्षण अपेक्षामात्रता ही है। किन्तु विषय-बोध अवश्य अनिवार्यत: वासनामूलक (अपेक्षामूलक) होता है, जीव में वह सदैव संवेदमूलक भी होता है, क्योंकि संवेद आद्यतम जीव-धर्म है। प्रत्यक्ष और विचार चैतन्य के विषयात्मक व्यापार हैं।

(2) इन्द्रिय-विषय अन्तःकरण के सहयोग से निश्चित और स्थिर होता है। वासना चैतन्य को विषयोन्मुखता में प्रवर्तित करती है। संवेद विषय को विज्ञापित करता है। इस प्रकार जीव में चैतन्य, निद्रावस्था के सिवाय, विषयोन्मुख प्रवृत्त और विषय से नियन्त्रित रहता है। केवल शुद्ध विचार की स्थिति इनसे भिन्न है। उसके विषय धर्म या तत्त्व होते हैं और इतर का व्यावर्तन प्रस्तुत में अप्रस्तुत का संग्राहक होता है। चैतन्य की एक अन्य अवस्था संवेद-रहित और ऐन्द्रिकता-रहित शुद्ध रचनात्मक वासना की है दूसरी अवस्था रचनात्मक वासना से निवर्तन के प्रयत्न की। इन दो में पहली एक ओर जगत्-रचना में और दूसरी ओर सांस्कृतिक रचनाओं में दृष्टिगोचर होती है। दूसरी मनुष्य के मूल्यान्वेषण और आत्म-अनात्म-विवेक में। बौद्ध शून्यता, वैदान्तिक ब्रह्म और सांख्यीय पुरुष—ये अत्यन्त प्रत्यङ्मुख और निरहंकार चैतन्य हैं। जगद्-रचना में व्यक्त चैतन्य कर्तृत्वरहित : निरहंकार : रचनात्मक वासना है जिसका स्वरूप बौद्धिक है। जगत् चिन्मूलक सृष्टि है और यह चित् इस सर्जन के क्रम में रूप, वेदना,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अन्तःकरण और बुद्धि के रूप में आविर्भूत होता है। यह चित्–सृष्टि चैतन्य का विषयोन्मुख प्रवर्तन है। इसके समानान्तर चैतन्य के विषय–भाव से निवर्तन का क्रम भी दृष्टिगोचर होता है। अवर जीवों में चैतन्य केवल संवेदन के माध्यम से प्रकाशित होता है और वासना–रूप में नितान्त विषयोन्मुख (परोन्मुख) प्रवर्तित रहता है। इसमें चैतन्य आपादमस्तक विषय–निमग्न रहता है और उसी से निर्धारित और निरूपत होता है जबकि मानुषिक स्तर पर चैतन्य ग्राह्य–ग्राहक रूप में उद्भिन्न होकर अपना विषय से पृथक् आत्म–रूप में और विषय का पर–रूप में ग्रहण करने में समर्थ होता है। ये दोनों निर्धारण अत्यन्त प्रयत्न–साध्य हैं और मनुष्य में भी साधारणतः अत्यन्त अस्पष्ट रहते हैं। चैतन्य को विषय सहज ही सिद्ध होता है, अतः ज्ञान का साध्य तो विषय नहीं होकर विषयी का, चैतन्य का, आत्मस्वरूप–विमर्श ही हो सकता है। बर्गसां और सौत्रान्तिक बौद्धों ने ठीक ही देखा कि विकल्प (इंटलेक्ट) तो विषय से विषयी को व्यवहित ही करता है। इसी से ज्ञान का विस्तार मनुष्य में विषयों की संख्या–वृद्धि के रूप में नहीं होकर प्रतीक–व्यवस्था के परिष्कार के रूप में होता है। यह प्रतीक–व्यवस्था व्यक्ति–मनस से अतिक्रामी अवेदनात्मक बौद्धिक चित् का विमर्श है, जो आत्मोन्मुख स्वरूप–विमर्श के मूल्य–बोध से प्रवृत्त होता है और मूल्य के रूप में सत्यान्वेषण में सिद्धि पाता है।

(3) प्रतीक–व्यवस्था अहंकार और अहंकारातिक्रमण का विचित्र सम्मिश्रण है। कलाएँ, विज्ञान, धर्म, तन्त्र, भाषा आदि इसके विभिन्न आयाम हैं। 'प्रतीक व्यवस्था' को 'भाव (बीइंग) के बौद्धिक अवधारण' या 'विकल्पात्मक विमर्श' के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इस विमर्श का यह स्वभाव है कि यह विमृश्य भाव की अखण्डता का ग्रहण खण्डशः (विभक्तिपूर्वक) करता है, किन्तु यह विभाजन ही इसे उस अखण्ड भाव के आन्तर–तत्त्व के वैभव दर्शन में समर्थ भी बनाता है। भाव की अखण्डता में निगूढ़ अर्थ–वैभव के उद्घाटन की विधि ही भाषा को एक प्रतीक–व्यवस्था बनाती है।

(4) सत् का भौतिक तत्त्व के रूप में निर्धारण आधुनिक यूरोप का पूर्वाग्रह है। कुछ अन्य संस्कृतियों ने इसको ऐसी समग्रता के रूप में देखा है जो स्वयं द्रष्टा का भी समावेश करती है और तब उन्होंने सत् में वैयक्तिक अहंकार के समर्पण को ही सत्य की परम सिद्धि माना है। इस समग्रता की आत्यन्तिकता और प्रमता को सब प्रकार से अपरिभाष्य : अनिरूप्य : कहने के लिए उपनिषद्कार ने इसे 'असत्' तक कहा है। प्लेटो ने इसके उत्कर्ष से विभोर होकर इसे सर्वसमावेशी अद्वय शिवभाव कहा है। यदि विषय को ही सत् और सत् को भौतिक मान लिया जाए तब मनुष्य का सम्पूर्ण मूल्यान्वेषण, दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण सांस्कृतिक प्रयत्न, व्यर्थ हो जाएगा।

(5) संस्कृति मानव–चैतन्य का ही एक आयाम है जिसे प्रतीक–व्यवस्था के माध्यम में व्यक्त, वेदना और वासना से रहित बुद्धि का आत्मविमर्श और स्वयं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आत्मचैतन्य का ही आत्म-अभिज्ञान कहा जा सकता है। इस प्रकार संस्कृति और उसके विभिन्न पक्षों का आविर्भाव चैतन्य के आत्मोन्मुख अन्वेषण की यात्रा के क्रम में ही होता है—काव्य, कलाएँ, शास्त्र, विज्ञान और दर्शन इसके बौद्धिक आत्मविमर्श को तथा धर्म और धर्ममूलक तत्त्वमीमांसा प्रवास-बोध-जन्य उत्कण्ठा और आत्मसाक्षात्कार की अभीप्सा को व्यक्त करते हैं।

शल्य जी के इन महत्त्वपूर्ण दार्शनिक प्रतिपादनों का स्मरण तक किये बिना भारतीय दर्शन के 50 वर्षों का कोई भी लेखा-जोखा अ-समसामयिक ही कहा जाएगा। यह आश्चर्य की बात है कि इन तीनों खण्डों में इन स्थापनाओं की सांकेतिक चर्चा तक अनुपस्थित है। तब इसे समसामयिक भारतीय दर्शन की प्रस्तुति कैसे कहा जाए?

इस समीक्षा में यहाँ समकालीन भारतीय दर्शन के क्षेत्र के इस सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक के इन महत्त्वपूर्ण दार्शनिक प्रतिपादनों का संक्षेप में उल्लेख करना इसलिए आवश्यक है कि जो समकालीन भारतीय दार्शनिक भारत के प्राचीन दार्शनिकों का उत्तम विवेचन कर रहे हैं उनके विवेचन को तो तथाकथित आधुनिकतावादी (तत्त्वतः यूरोख्रीस्त पंथ के विविध रूपों की भारतीय शाखाओं के आस्थावान् अनुशीलनकर्ता) यह कहकर देखने से भी कतराते हैं कि वे काल-बाह्य मतों की विवेचनाएँ हैं, परन्तु श्री शल्य तो सर्वथा आधुनिक, यानी समसामयिक एवं स्वाधीन भारतीय दार्शनिक हैं, अतः उनकी स्थापनाओं के खण्डन, उनसे विमति-प्रदर्शन आदि तो युक्तियुक्त हैं, परन्तु उन स्थापनाओं पर गम्भीर मनन किये बिना किसी भी आधुनिकतावादी भारतीय दर्शन-अध्येता को समकालीन भारत का दार्शनिक कहलाने का पात्र नहीं कहा जा सकता। ये स्थापनाएँ इतनी आधारभूत, स्पष्ट एवं समसामयिक तथा नवीन हैं, नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा से इतनी सम्पन्न हैं कि उन पर ध्यान दिये बिना आधुनिक भारत में किसी के दार्शनिक कहे जाने की पात्रता ही नहीं बनेगी। आप अपने समय के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भारतीय दार्शनिक की स्थापनाओं पर गम्भीर मनन किये बिना किसी एक अन्य, दूरस्थ, अल्पपरिचित संस्कृति के व्याख्याताओं पर सहसा मनन प्रारम्भ कर दें तो आत्माभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के अधिकार के अन्तर्गत आपको वह नागरिक अधिकार तो प्राप्त है परन्तु विद्या की सार्वभौम परम्पराओं के अनुसार आप तब भारत के दर्शन-क्षेत्र के विद्वान कहे जाने के अधिकारी कथमपि नहीं हैं। स्वयं प्राचीन दर्शनों की श्रेष्ठ विवेचना कर रहे दार्शनिकों द्वारा भी शल्य जी पर अभिमत दिया जाना अनिवार्य है, जैसा कहीं-कहीं श्री द्राविड़ जी ने सम्यक् रूप से किया भी है। ऐसा न होने पर तो घोर दार्शनिक अराजकता ही कही जा सकती है। इन संकलनों में श्री दयाकृष्ण से लगाकर सभी प्रमुख समकालीन यूरोख्रीस्त पंथानुयायी भारतीय दार्शनिकों ने शल्य जी की स्थापनाओं को अविवेच्य मान लिया है। यह घोर अराजकता का परिदृश्य है, जहाँ एक न्यूनतम दार्शनिक अनुशासन भी दिखाई नहीं पड़ता।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वैसे भी इस संकलन के तीनों खण्डों से दार्शनिक अराजकता का ही परिदृश्य प्रकट होता है, जहाँ दर्शन के विविध अध्यापक अपने किसी प्रिय विषय पर छात्रोपयोगी कुछ टिप्पणियाँ करते दिखते हैं। जीवन, जगत्, सत्ता, मनुष्य, समाज, विचार, संस्कृति, मूल्य आदि पर इन दार्शनिकों के मध्य परस्पर कोई भी विमर्शात्मक सजगता नहीं दिखाई पड़ती, जैसे दूसरा भारतीय दार्शनिक क्या कह रहा है, यह नितान्त महत्त्वहीन है। हमें तो अपने इष्ट किसी यूरोख्रीस्तपंथी दर्शन पर कुछ कहना है, बस, क्योंकि हमारी दृष्टि में वही महत्त्वपूर्ण है। क्यों और कैसे? यह शायद अतिप्रश्न है, इनके लिए। इस प्रकार वस्तुतः इन तीनों खण्डों में यही प्रकट होता है कि समसामयिक भारतीय दार्शनिक परिवेश शोचनीय अराजकता से भरपूर है। उल्लेखनीय है कि श्री यशदेव शल्य के उक्त तथा अन्य महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन समस्त समसामयिक भारतीय दार्शनिकों की स्थापनाओं का संज्ञान लेते हैं।

प्रथम खण्ड में जिन 14 दार्शनिकों के लेख हैं उनमें से गोविन्दचन्द्र जी पाण्डे और नारायण शास्त्री द्राविड़ तथा श्री यशदेव शल्य (जिनका मात्र पुरोवाक् है, एवं परिसंवाद में टिप्पणी है) तो परस्पर एक दूसरे को पढ़ते हैं, ऐसा दिखता है, परन्तु नन्दकिशोर देवराज, सुरेन्द्र बारलिंगे, सुरेशचन्द्र, राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय, रामचन्द्र पाण्डेय और बसन्त कुमार लाल के दार्शनिक भावलोक में तो मानो उक्त तीनों दार्शनिकों का कोई विमर्शमूलक या विमर्श योग्य स्थान ही नहीं है। असहमति या खण्डन या शास्त्रार्थ तो उचित होता, परन्तु यहाँ तो सम्पूर्ण उदासीनता या अरुचि या सुषुप्ति या दार्शनिक मूर्च्छना ही है। ऐसे में इनका एक ही खण्ड में संकलित होना यादृच्छिक या संयोगमात्र रह जाता है। इनमें परस्पर कोई अन्तःक्रिया नहीं है जबकि वर्तमान पश्चिमी यूरोप में ऐसी स्थिति असम्भव है। आप अपने ही समय के मुख्य दार्शनिकों से उदासीन या उनके प्रति सुन्न रहें, यह तो अकल्पनीय है। पर यहाँ यही स्थिति है तीनों ही खण्डों में। धन्य है।

रामेश्वर मिश्र पंकज
निदेशक, निराला सृजन पीठ,
सी–165/1, प्रोफेसर कॉलोनी,
भोपाल 462 002

❑

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पुस्तक समीक्षा–2

धर्म–संकट, *ले. मुकुंद लाठ, प्रकाशक—दर्शन–प्रतिष्ठान, जयपुर के लिए राका प्रकाशन, 40 ए, मोतीलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद–211002, 2004, पृ.सं. 192, मूल्य रु. 200/–*

मेरे लिए यह संकट ही है कि मैं **धर्म–संकट** जैसी पुस्तक की समीक्षा लिखूं। इस कार्य के लिए मुझे इसे कई बार पढ़ना पड़ा, टाल–मटोल करना पड़ा और अन्त में जब लिख ही रहा हूँ तो भी आश्वस्त नहीं हूँ कि लेखक के मन्तव्य को ठीक से समझ ही पाया हूँ। यह दो कारणों से है—प्रथम तो यह विषय गूढ़ है, दूसरे गुरुतर विचारक द्वारा प्रस्तावित है, वह भी गुरुतर शैली में। इस गम्भीर ग्रन्थ में लेखक के मन्तव्य को समझ पाना तो जैसे–तैसे सम्भव भी है, किन्तु वह विषय–वस्तु के धागों को 'निरुआर' कर इस तरह छितरा–फैला देता है और वे आपस में ऐसे 'अरुझा' जाते हैं कि उन्हें समेटना मुश्किल है। इस पुस्तक को पढ़ कर जो लोग धर्म–संकट से उबरने का कोई कौशल सीखने की अपेक्षा रखते हों वे निराश होंगे। पुस्तक केवल प्रश्नों को उभार कर, उन्हें विश्लेषित करके, उनके तह–दर–तह में भी कोई प्रश्न बन सकते हैं तो उनका ही दिग्दर्शन कराती है, जिसकी कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं दीखती। भाषा अधिकांश में प्राञ्जल, दुरूह और प्रदर्शनात्मक है। शैली विदग्धतापूर्ण और उलझाने वाली है, जिससे विषय का सरल सारांश प्रस्तुत करना कठिन है, यद्यपि आगे यहाँ लेखक के ही शब्दों में उसे प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

धर्म–संकट 'कर्त्तव्य कर्म' के निर्णय में उपस्थित होने वाली दुविधा का ऊहापोह है। इसमें किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचना असम्भव सा है। लेखक के सारे विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण और विवेचन से लगता है, और यह सही भी है, कि जब अर्थ की बहुत गहराई में जाँच–पड़ताल की जाए तो उसका स्वरूप ही छिन्न–भिन्न हो जाता है, और ऐसे में कर्म के निर्णय की दुविधा को युक्ति–तर्क से नहीं टाला जा सकता। कर्म के औचित्य का निर्धारण साधारण काम नहीं है। परम्परा कहती है कि इस विषय में बड़े-बड़े विद्वान् मोहित हो जाते हैं। गीता के अनुसार कार्याकार्य–व्यवस्था में श्रीकृष्ण ने शास्त्र को प्रमाण ठहराया। इस प्रकार परम्परा तो शास्त्र एवं वृद्ध–व्यवहार को प्रमाण मान कर निर्देशित होती रही है, किन्तु मुकुंद जी किसी कर्म के औचित्य–निर्धारण में शास्त्र के परम्परागत तरीके का अंधानुकरण न करके बुद्धि द्वारा विश्लेषण की विधि की ओर झुकते हैं।

परम्परा से हट कर विचारना कोई नई बात नहीं है। आजकल तो बौद्धिकता का यह एक चलन भी है। किन्तु मुकुंद जी इस चलन के चलते नहीं बल्कि एक प्रबुद्ध

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मानव की भूमिका में, धर्मशील या नैतिक चेतनापूर्ण व्यक्ति के रूप में कहें तो बात में परम्परागत गन्ध आने लगेगी इसलिए उन्हीं के शब्दों में कह सकते हैं कि—अपने 'मनुष्य भाव' में स्थित होकर, समस्याओं का जायज़ा लेते हैं। इस विषय में शास्त्र कितना आनुषंगिक है, इसकी परवाह किये बिना, यद्यपि मूल धारणाएँ वहीं से ली गई हैं, उन्होंने धर्म–संकट का ताना–बाना पसारा है। उसमें यह भी है कि लेखक ने समस्या को और उसके अन्तर्गत समस्याओं को अपनी मौलिक दृष्टि से देखा है, विचारा है। शास्त्र–प्रमाण की बार–बार दुहाई तो नहीं दी है लेकिन उस आधार से वह हटा भी नहीं है।

ग्रन्थ की विषय–वस्तु में प्रवेश करने से पूर्व सम्माननीय शल्य जी की भूमिका को लांघना असम्भव है। पुस्तक की समीक्षा तो शल्य जी ने भूमिका में खुद ही इतनी अच्छी तरह से कर दी है कि दूसरे को अब कुछ कहने की सचमुच ज़रूरत ही नहीं है। हाँ, पुस्तक को पढ़ कर कैसा लगा, अपनी समझ के अनुसार इतना ही बताया जा सकता है। हम शल्य जी के भूमिका में व्यक्त किये गए इस विचार से सहमत हैं कि "लेखक अपने इस विवेचन में विचार के किसी पहले से बने राजमार्ग पर चलता दिखाई नहीं देता। वह स्वयं लक्ष्य निर्धारित करता और उस तक पहुँचने के लिए पगडण्डियाँ रचता चलता है। इस पुस्तक में धर्म का विवेचन और इसी प्रकार धर्माचरण के क्रम में उपस्थित दुविधाओं का विवेचन विचार की अपनी उद्गृहीत भूमि पर होते हुए भी जीवन की समग्रता के भीतर हुआ है।"

शल्य जी का यह कहना कि यह पुस्तक धर्म के लोकजीवन की, अर्थ और काम के समन्वित रूप की, सुन्दर प्रस्तुति करती है, साथ ही धर्म–विषयक और लोकजीवन को समेटता विचार, या उनकी बात को उलट कर यह लिखना, जो उनकी शैली है, कि 'लोक के धर्म से समन्वित रूप' की बहुत गहरी और सुन्दर प्रस्तुति इस पुस्तक में हुई है, तो यह उक्ति पुस्तक के बारे में अक्षरशः सही लगती है। क्योंकि, जिन प्राचीन कथा–उद्धरणों को पुस्तक में प्रदर्शित किया गया है वे उस समय के लोक के धर्म से समन्वित रूप की झाँकी तो प्रस्तुत करते ही हैं साथ ही अधिकांश में लेखक की विश्लेषणात्मक और विचारपूर्ण शैली में, आज के लोक के (तथाकथित) धर्म से समन्वित रूप की भी गहरी और सुन्दर प्रस्तुति कराते हैं। पुस्तक में प्रवेश करने पर हमें पहला अध्याय मिलता है 'धर्म : कर्म का औचित्य।'

मुकुंद जी के अनुसार 'धर्म' आज 'रिलिजन' का पर्याय माना जाने लगा है (पृ. 2)। चूँकि किसी धारणा का स्वरूप परम्परा विशेष के भीतर ही सार्थक होता है अतः यह कह कर लेखक ने धर्म के व्यापक स्वरूप को भारतीय परम्परा में ही सही ढंग से समझे जाने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया है, जिसका अनुवाद 'रिलिजन' या 'मज़हब' में नहीं किया जा सकता, क्योंकि धर्म के सिद्धान्त और व्यवहार ने भारत में ठीक वैसी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दिशा नहीं ली जो सेमेटिक परम्परा में 'रिलिजन' और 'मज़हब' ने ली। साथ ही 'धर्म' ने कुछ ऐसी दिशाएँ भी लीं जिन्हें पश्चिम में 'रिलिजन' से भिन्न रखा गया है, जैसे 'मॉरेलिटी'। 'धर्म' के अर्थ की कुछ और भी दिशाएँ रही हैं जो इस धारणा को अपना विशिष्ट रूप देती हैं। (पृ. 2)

इस प्रकार 'धर्म' का अर्थ लगाने में लेखक 'रिलिजन' और 'मज़हब' जैसी तथाकथित 'ग्लोबल' धारणा पर निर्भर नहीं है। उसने आशा व्यक्त की है कि "अगर सामान्य की सृष्टि परम्परा मात्र का धर्म है तो हो सकता है कि अपनी परम्परा के विशेष का कुछ मंथन करने पर हम सामान्य के किसी सार्थक रूप को उभार सकें जो हमारा अपना भी हो।" (पृ. 5) और इसीलिए इस अध्याय में वह अपनी परम्परा के ही आलोड़न-विलोड़न से धर्म के अर्थ को उद्घाटित करता है। इस क्रम में पहले तो उसने धर्म का तात्पर्य किसी वस्तु विशेष के गुण से लिया है, जैसे—"नीचे की ओर बहना पानी का धर्म है" फिर वह अवलोकन करता है कि "धर्मसूत्रों में स्मृति, पुराणों में जिस अर्थ में 'धर्म' आया है उसमें धर्म प्रधानत: लोक-यात्रा और लोक-व्यवहार का ही धर्म है। व्यष्टि को वहाँ समष्टि में रख कर ही देखा गया है। तभी स्मृति-धर्म का एक प्रमुख अङ्ग है संस्कार।···संस्कार पहले हमें दूसरे देते हैं, फिर व्यष्टि के रूप में चाहे हम अपने आप को भी संस्कृत बनाने की साधना करते रहें।" (पृ. 8) ले-देकर बात हमारे नैतिक आचार-व्यवहार की उठती है। जहाँ तक नैतिकता का सवाल है, "हमारे परिप्रेक्ष्य में 'धर्म' का अर्थ स्पष्ट ही 'मॉरेलिटी' के अधिक निकट है—पर उससे अधिक विस्तृत भी है : संस्कार-धर्म, राज-धर्म, व्यवहार-धर्म जैसे समष्टि-धर्म 'मॉरेलिटी' के संकेत से बाहर ठहरते हैं।" (पृ. 9) किन्तु 'धर्म' इन सब को समेटता है। एक बात जो नैतिकता में महत्त्वपूर्ण है और धर्म में भी उतनी ही स्पष्टता से लक्षित होती है, जैसा कि लेखक ने उस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है, वह है आचरण की स्वतन्त्रता। समष्टि के एक अङ्ग के रूप में व्यष्टि जो भी व्यापार करता है साधारण क्रिया से अलग "इन्हीं में आचरण एक विशेष 'व्यापार' है।···आचरण स्वतन्त्र व्यापार है···उसका स्वातन्त्र्य यह है कि वह जो कुछ है उससे और प्रकार का भी किया जा सकता है। यह अन्यथाकरणीय व्यापार है। यह किसी जड़-वस्तु के निसर्ग, प्रकृति-सिद्ध व्यापार या क्रिया की बात नहीं है। यह कर्म की बात है, जिसका कर्त्ता स्वतन्त्र होता है।···धर्म-संकट कर्म में होता है, क्रिया में नहीं।" (पृ. 6)

'स्वातन्त्र्य' की विशद विवेचना करते हुए लेखक ने इस पर भी विचार किया है कि स्वतन्त्र भाव क्या निष्कर्म की स्थिति नहीं हो सकता? स्वातन्त्र्य कर्म से बँधा क्यों हो? हमारा पूर्ण स्वातन्त्र्य तो मोक्ष में है जो हमारे सभी व्यापारों का परम साध्य है। लेखक का मत है कि "धर्म के जो विभिन्न क्षेत्र आँके गये हैं उनको देखें तो उनमें एक सोपान दिखाई दे सकता है जो मुक्ति की ओर बढ़ता है। संस्कार को हम स्वतन्त्र होने की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यात्रा का 'अथ' कह सकते हैं और 'मोक्ष' को उसकी 'इति'।···स्वातन्त्र्य की गति अगर धर्म है तो उसकी स्थिति, उसका आत्मस्थ होना मोक्ष है। यही स्वातन्त्र्य का परम साध्य हो सकता है। पर इसे व्यक्ति की ही साधना माना गया है, समष्टि की नहीं।" (पृ. 10-11) इस प्रकार निष्कर्ष निकालते हुए लेखक लिखता है कि "धर्म का द्वार स्वातन्त्र्य का द्वार है। हमारा स्वभाव-धर्म हमें स्वतन्त्र करता है और हम स्वतन्त्र होकर उस धर्म की साधना करते हैं जो कर्म का औचित्य है।" (पृ. 11)

इस अध्याय में लेखक ने दो और विचारणीय बातों को उठाया है। एक तो है धर्म-निरपेक्षता की बात जो आजकल बहुत महत्त्वपूर्ण हो गई है। दूसरी है धर्म को बौद्धिक विश्लेषण से दूर रखे जाने की बात। अपने देश में धर्म को मनुष्य के जीवन में कितना स्थान दिया गया है इस सन्दर्भ में वह लिखता है "ग्रीस में अगर मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण रीज़न या बुद्धि किया गया है तो हम कह सकते हैं कि भारत की मनीषा के लिए मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण ही धर्म है : मनुष्य वह है जो धर्म साधता है।" (पृ. 7) इस स्थिति में लेखक आगे स्वाभाविक रूप से यह मान लेता है कि "मनुष्य का लक्षण ही अगर धर्मशील होना है—जैसा कि हमारे यहाँ चिन्तन में गहराई से उभर कर आता है—तो मनुष्य धर्म-निरपेक्ष हो ही नहीं सकता, हाँ वह धर्म के अनैक्य की, भिन्न क्षेत्रों की बात कर सकता है, जैसी कि की गई है।" (पृ. 9) जहाँ तक धर्म से भिन्न क्षेत्रों की बात है "हम अपनी परम्परा में 'सिकुलर' को 'रिलिजस से भिन्न' के रूप में समझना चाहें, जैसा कि पश्चिम के प्रभाव से आज चलन है—तो समस्या ही होगी—'धर्म' को लेकर भ्रान्तियाँ बढ़ेंगी, जैसी बढ़ रही हैं।" (पृ. 9) लेखक का स्पष्ट मत है कि "सिकुलर' की बात 'रिलिजस' के विरोध में उठी है। पश्चिम में 'रिलिजस' धर्म, धर्म के सभी क्षेत्रों पर प्रभुत्व का दावा करता रहा है। उसके विपरीत उदय हुआ 'सिकुलर' भी अब वैसा ही दावा करता है।···धर्म का आधार ईश्वर के स्थान पर बुद्धि में ढूँढता है।···रिलिजन के लिए कोई स्वतन्त्र क्षेत्र वह छोड़ता भी है तो उसे भ्रान्त मानता हुआ ही छोड़ता है। रिलिजन के लिए छूट सचमुच की छूट नहीं है, न धर्म के अनेक होने का सच्चा स्वीकार है।" (पृ. 10)

एक तरफ तो लेखक ने हमारी परम्परा में धर्म को ऐसा रचा-बसा माना है कि वह आज की तथाकथित धर्म-निरपेक्षता को समस्या ही बढ़ाने वाला मान लेता है तो दूसरी तरफ वह धर्म को हमें जकड़ कर बाँध देने वाला भी मान लेता है। उसे लगता है कि धर्म ने हमारे लिए स्वातन्त्र्य का द्वार खोलने की जगह हमें द्वारहीन रूढ़ियों में कसने का काम ही किया है। यदि प्रश्न उठते हैं तो उन्हें उठते ही चुप करा दिया जाता रहा है। वह इस प्रवृत्ति को जैसी अपनी परम्परा में वैसी ही अन्यत्र भी एक समान देखता है—"धर्म को प्रश्न की चोट से बचाने की प्रवृत्ति भारत की ही नहीं संस्कृति मात्र की एक प्रधान प्रवृत्ति है।···हर संस्कृति, हर व्यवस्था इतिकर्त्तव्यता के एक ढाँचे को, एक वलय को,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संशय से परे हटाकर बुद्धि के निरन्तर ऊहापोह के वार से बचा लेना चाहती है।…और इसीलिए धर्म को बुद्धि के प्रपञ्च से हटाकर किसी ऐसी प्रज्ञा में स्थापित कर देने की प्रवृत्ति सहज है जिस प्रज्ञा में धर्म के एक अटल, ध्रुव तत्त्व का अप्रश्न-दिग्ध प्रत्यक्ष हो सके। इसी दृष्टि से ईश्वर को धर्म का प्रवक्ता बनाया जाता है : बाइबल जैसी आचार-संहिता का रचयिता। या वेद को धर्म का प्रमाण कहते हुए उसे किसी ऐसी 'अपौरुषेय' वाक् में स्थिर कर दिया जाता है जो पुरुष मात्र के अज्ञान और अहंकार से, मोह से अछूती है…यह मनुष्य के सहज अनेकान्त से धर्म को बचा रखने के जाने-माने मार्ग हैं। इन्हीं मार्गों को आज रिलिजन के अर्थ में धर्म कहा जाता है। भारत में ऐसे एक नहीं अनेक मार्ग रहे हैं। रूढ़ि रही है, पर रूढ़ि में अनेक की स्वीकृति भी रही है। कहते हैं कि रीज़न से उपजे हुए धर्म, जैसे कि आज के सेकुलर कहलाने वाले धर्म हैं, ऐसे धर्म प्रश्न का द्वार खुला रखते हैं।" (पृ. 11-12) धर्म को बुद्धि के घेरे से हटाकर उसे अपौरुषेय कह कर पुन: युक्ति-विचार से उसकी पुष्टि करने के प्रयासों में उसे मीमांसा का उदाहरण याद आता है जो अपने पक्ष में बुद्धि का सहारा भी लेती है—"बुद्धि के बल पर ही धर्म को बुद्धि के ऊहापोह से परे रख देने की बात करता है मीमांसक।" (पृ. 13)

दूसरा अध्याय है—यज्ञ, आचार, शिष्टाचार, परमधर्म। इसमें लेखक ने धर्म के नाम पर प्रचलित धारणाओं को विश्लेषण का विषय बनाया है। उसका मानना है कि मीमांसा, जो कर्मकाण्डों का बौद्धिकीकरण करती है, उसकी युक्ति में भले ही गहराई हो किन्तु वहाँ धर्म का स्वरूप संकीर्ण है। "कर्म को मनुष्य के जीवन और आचरण के बृहत् प्रांगण से निकाल कर कर्मकाण्ड के छोटे से घेरे में बाँध दिया गया है।…यह सम्भव था कि यज्ञ की धारणा को ही व्यापक रूप दिया जाता। हम जो कुछ करते हैं सब यज्ञ है। गीता में यह बात उभर कर आयी भी है।" (पृ. 40) ब्राह्मण ग्रन्थों से शुरू करके वैदिक साहित्य के ऐसे कुछेक मार्मिक अंशों को यहाँ लेखक ने विचार का विषय बनाया है जिन्हें उसके अनुसार मीमांसा पैंतरा बदल कर 'अर्थवाद' कह कर टाल देती है। ब्राह्मण ग्रन्थ, जो मुख्य रूप से यज्ञीय कर्मकाण्ड का ही वर्णन करने वाले माने जाते हैं, अपनी तरह से यज्ञ के मर्म पर भी विचार करते हैं। इससे लगता है कि वहाँ 'यज्ञ' तो है किन्तु प्रतीकात्मक अर्थ में है, जैसे—प्राण में प्राण की आहुति दो। श्रद्धा में सत्य की आहुति दो। देवता और कुछ नहीं ऋत ही है। "सत्य का चरम, ध्रुव छन्द, जो मनुष्य को मनुष्य बनाता है—जो हमारा जनक है। ब्राह्मण ग्रन्थों में ध्वनि यह जान पड़ती है कि ऋत का छन्द हमारा जनक होता हुआ भी, अपनी गति से, अपने स्वभाव से सहज चलता हुआ भी, ऐसा छन्द है जो हमारे स्वतन्त्र प्रयत्न की भी माँग करता है। 'हम स्वतन्त्र हैं, ऋत के उस छन्द से अपने को अलग भी रख सकते हैं, पर तब हमारा जीवन सार्थक नहीं होगा—यज्ञ नहीं होगा। हमें अपने आप को ऋत में ढालते हुए उसके स्पन्द में चलना चाहिए। यही हमारा यज्ञ है—कर्त्तव्य है, धर्म है।" (पृ. 18) इस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रकार लेखक यज्ञ को और कुछ नहीं बल्कि ऋत के छन्द से तालमेल बैठाना, पुन: तदनुरूप अपने आचार को ढालना ही धर्म मानता है।

अब आती है बात शिष्टाचार की, उसे भी धर्म की संज्ञा दी गई है—"जिसके किये जाने पर आर्य प्रशंसा करते हैं, वह धर्म है, जिसकी निन्दा करते हैं, वह अधर्म है" (*आपस्तम्ब धर्मसूत्र,* 1.20.7)। दूसरे शब्दों में धर्म का आधार शिष्टाचार है। (पृ. 22) ऋत के स्पन्द में आचार को ढालना ही अगर धर्म है तो यह आसान कार्य नहीं है। हम कैसे जानें कि यही ऋत का छन्द है, यही धर्म है? क्योंकि आपस्तम्ब कहते हैं : धर्म और अधर्म यह कहते हुए नहीं घूमते रहते कि यह देखो ये हम हैं। न देव, न गंधर्व, न पितर, कोई आकर नहीं बताता कि यह धर्म है, यह अधर्म। न धर्माधर्मौ चरत आवं स्व इति, न देव गंधर्वा न पितर इत्याचक्षते अयं धर्मो अयमधर्म इति। (*आपस्तम्ब धर्मसूत्र,* 1.20.4। 'धर्मकोश' खण्ड–5, भाग–1, प्राज्ञ पाठशाला मण्डल, वाई 1988, पृष्ठ 429 पर उद्धृत)। (पृ. 22) ऐसे में जो ऋत की समझ रखते हैं, आप्त हैं और जिनका आचरण भी उस छन्द के अनुरूप ढला है उनका ही अनुकरण किया जाए। किन्तु ऐसे शिष्ट की भी पहचान कैसे हो? लेखक धर्म की इस परिभाषा को परम्परा की दुहाई मात्र नहीं मानता बल्कि परम्परा के अर्थ में गहराई भी देखता है। शिष्ट, यहाँ जिसे आर्य कहा गया है, उसकी पहचान किसी बाहरी प्रत्यक्ष गुण से नहीं उसके अन्तरंग आत्म–गुणों से होती है। अगर वह अलोलुप है, दम्भरहित है, समाहित है, सही अर्थों में आत्मवान् है तो उसका आचरण धर्म का आचरण होगा ही। इसी आचरण के अनुकरण की बात है। लेखक यहाँ महाभारत के प्रसिद्ध श्लोक का सहारा लेता है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः।। (पृ. 25)

और देखता है कि "इसके भाव में प्राचीन *आपस्तम्ब* की स्पष्ट छाया है। आपस्तम्ब ही की तरह यह धर्म को दुर्बोध बताता हुआ शिष्टाचार में उसके पदचिह्न ढूँढता है। अन्तर यह है कि यहाँ शिष्ट परम्परानिष्ठ व्यक्ति या समूह नहीं असाधारण व्यक्ति–विशेष है, 'महाजन' है…।" (पृ. 26) लेखक यहाँ भी अपनी प्रश्नों का जाल बुनने वाली शैली का अनुसरण करते हुए बुद्धि लगाता है कि "हमें शिष्ट या महाजन की करनी का अनुकरण करना चाहिए या उसकी कथनी का?…कि ऋषि की भी कथनी का कोई भरोसा नहीं : नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्…बादरायण तर्क को अप्रतिष्ठ कहकर ब्रह्म को श्रुति में प्रतिष्ठ कहते हैं। महाभारत यहाँ धर्म के लिए श्रुति को भी प्रमाण नहीं मानना चाहता।" (पृ. 26–27) और निस्संदेह, लेखक इस तरह अपने मौलिक निष्कर्ष पर पहुँच रहा है कि "बादरायण की तरह मीमांसा भी धर्म के लिए श्रुति को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रमाण मानती है। पर स्पष्ट ही इस श्लोक की अपूर्व उक्ति मीमांसा और बादरायण दोनों से हटकर है।" (पृ. 27) इसलिए निश्चित हुआ कि कर्म का औचित्य निर्धारित करने में तर्क की प्रतिष्ठा नहीं, श्रुति की प्रतिष्ठा नहीं, ऋषियों में मतैक्य नहीं, अर्थात् उनकी कथनी की भी प्रतिष्ठा नहीं, तो महाजन की 'करनी' में ही धर्म का तत्त्व है। तो भी प्रश्न तैयार खड़ा है : "क्या महाजन की करनी में सचमुच उत्तर ढूँढा जा सकता है? फिर महाजन एक नहीं होता—चाहे महाभारत के श्लोक में एकवचन का ही प्रयोग हो। श्रुति की तरह महाजनों का विभेद भी प्रकट ही है।···यहाँ आपस्तम्ब की बात से हम एक दूसरा सुझाव ले सकते हैं : आज जिस जनपद में रहते हैं वहाँ के महाजनों के पथ पर चलें।" (पृ. 28) अभी इस सुझाव के बावजूद भी समस्या जहाँ की तहाँ है। कथनी-करनी का निर्णय नहीं हुआ। "स्मृतियाँ साफ-साफ कहती हैं कि महाजन की कथनी पर चलो उसकी करनी पर नहीं—करनी में दोष हो सकता है।···हारीत और बौधायन दोनों के प्राचीन धर्मसूत्रों में एक श्लोक आया है, जिसका आशय बाद की स्मृतियों में कई बार दुहराया गया है—

> अनुष्ठितं तु यद्देवैर्मुनिभिर्यदनुष्ठितम्।
> नानुष्ठेयं मनुष्यैस्तु तदुक्तं कर्म आचरेत्।।

देवता और मनुष्य जिस कर्म का आचरण करते हैं उसका आचरण मनुष्य न करे, उनके कहे का आचरण करे।" (*धर्मकोश*, पूर्वोक्त, पृ. 51 और 53) (पृ. 29)

यहाँ कथनी-करनी को लेकर जो अनिश्चय की स्थिति खड़ी की गई है यह ठीक है कि वैसा है भी, फिर भी यह लेखक की उस शैली की भी बानगी देती है जिसमें विचारों और धारणाओं को उलझाते-सुलझाते चलते जाना है। किसी प्रश्न का हल इस प्रक्रिया में मिल जाए तो ठीक, अन्यथा समस्या उपस्थित करना जिस तरह लक्ष्य लगता है वैसा हल ढूँढना लक्ष्य नहीं लगता। लेखक ने आपस्तम्ब धर्मसूत्र को उद्धृत कर यहाँ परम्परा और उसके अन्तर्गत शिष्टाचार को धर्माचरण में निर्णायक माना है। प्रश्न उठे कि शिष्ट कौन है? तो "परम्परा के भीतर ही महाजनों के उस विशेष समूह को पहचानने के लिए, दूसरे शब्दों में 'आर्यों' को पृथक् जनों से अलग करने के लिए, आपस्तम्ब अलोलुपता, आत्मस्थता जैसे गुणों की ओर संकेत करते हैं जिससे सही लोग जाने जा सकें।" (पृ. 29) इससे बात शिष्ट लोगों के आचरण के बहिरंग की बजाय अन्तरंग की ओर संकेत करती है। लेखक कहता है, "यहाँ दो रास्ते लिये जा सकते हैं और लिये गये दिखते भी हैं। एक मार्ग धर्म को सर्वथा अन्तरंग की ओर ले जाता है।···यह कहता हुआ कि धर्म अन्तर की, संकल्प की शुद्धि में है, उसे किसी के आचरण में नहीं पाया जा सकता। संकल्प शुद्ध हो, राग, द्वेष, मोह, स्वार्थ से ऊपर उठा हुआ हो तो कर्म सम्यक् ही होगा। तात्पर्य यह कि धर्म धर्म के लिए किया जाना चाहिए, कुछ पाने के लिए या किसी इच्छा की पूर्ति के लिए नहीं।···आपस्तम्ब कहते हैं कि कोई धर्म किसी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लौकिक अर्थ की प्राप्ति के लिए नहीं किया जाना चाहिए : नेमं लौकिकमर्थं पुरस्कृत्य धर्मांश्चरेत्। (*आपस्तम्ब धर्मसूत्र*, 1.20.1; *धर्मकोश*, वही, पृ. 429)" (पृ. 30) आपस्तम्ब फिर कहते हैं कि यदि निःस्वार्थ कर्म किया जाय तो भी कोई हानि नहीं। "धर्म धर्म के लिये किया जाये तो लौकिक फल आप को अपने आप मिल जाता है, जैसे आम को फल के लिए बोने पर भी छाया और सुगन्ध अपने आप मिल जाते हैं : तद्यथाम्रे फलार्थे निर्मिते छाया गन्ध इत्यनूत्पद्येते, एवं धर्मं चर्यमार्णेऽर्था अनूत्पद्यन्ते।" अब बात स्पष्ट ही 'धर्म धर्म के लिए' से हट कर लौकिक स्वार्थ की ओर बढ़ने लगती है।" (पृ. 30) इस स्थल पर बहुत अच्छी तरह यह दिखाते हुए कि आपस्तम्ब धर्मसूत्र कैसे अपनी बात पलट देते हैं, कभी इधर–कभी उधर, स्वयं अनिश्चय में हैं, कभी धर्म को स्वतन्त्र पुरुषार्थ मानने की बात करते हैं कभी 'अभ्युदय' लोक में कुछ पा लेने— को भी उसमें स्थान देते हैं, लेखक अपना मत निश्चित करता है : "धर्म क्या हो, यह प्रश्न उनके लिए संकल्प का ही नहीं आचरण का भी प्रश्न है। तभी उनका उत्तर है : शिष्टाचार धर्म है।···उनका मत यह लगता है कि हमें चाहिए कि हम धर्म को स्वतन्त्र पुरुषार्थ मानते हुए अपनी परम्परा में स्थापित सदाचरण के मार्ग पर चलते रहें, पर इसलिए नहीं कि इससे कुछ और पाया जा सके।" (पृ. 30)

जहाँ लेखक एक ओर आपस्तम्ब धर्मसूत्र के उपर्युक्त मत का ज़िक्र करता है जो धर्म को संकल्प–शुद्धि से ज़्यादा आचरण की बात मानता है वहीं वह धर्म को उसके अन्तरंग की ओर ले जाते हुए, उसे समान महत्त्व देने के पक्ष में याज्ञवल्क्य आदि कुछ अन्य चिन्तकों की भी चर्चा करता है—"ऐसे भी विचारक हैं जो किसी भी आचरण विशेष से बात को हटाकर संकल्प–शुद्धि में ही धर्म की विशुद्ध स्थिति देखते हैं। यह बात कुछ वैसी ही है जैसी याज्ञवल्क्य–दृष्ट यज्ञ को कर्म का आदर्श बनाने की : ऋत के छन्द पर चलो, सत्य की श्रद्धा में आहुति देते चलो। पर इन विचारकों में बात यहीं नहीं रुक जाती, कुछ आगे भी बढ़ती है। आत्म में सीमित नहीं रह कर पर की ओर उन्मुख होती है, संकल्प की शुद्धि के साथ ये कहते प्रतीत होते हैं, आत्मवत् सर्वभूतेषु—दूसरे के साथ वैसा ही आचरण–व्यवहार करो जैसा अपने प्रति चाहते हो।···काँट, मुझे लगता है, कुछ–कुछ ऐसी ही बात करते हैं। उनके लिए शुद्ध संकल्प वह है जो राग–द्वेष के बन्धन से मुक्त हो, और जिसके बारे में हम कह सकें कि यह सब का संकल्प बने, स्वतन्त्र कर्त्ता मात्र का सार्वजनीन संकल्प बने। संकल्प ऐसा हो कि हम दूसरे को—दूसरे मनुष्य को—अपने किसी स्वार्थ का उपाय या साधन न मानें, उसे उपेय मान कर कर्म करें।" (पृ. 31) लेखक को लगता है कि आत्मवान् और समाहित होकर धर्म के लिए धर्म करने की आपस्तम्ब की विचारधारा से काँट की धर्म विषयक यह धारणा मिलती–जुलती है। तो भी उसने इन दोनों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर भी किया है। काँट में 'क्या करें, आचरण का रूप क्या हो', इस तरह के प्रश्नों का खुल कर कोई

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उत्तर नहीं मिलता, "जबकि आपस्तम्ब में धर्म का एक साकार रूप भी है। संकल्प-शुद्धि के, निदिध्यासन के साथ यह भी देशना दी गई है कि शिष्टों के आचरण का अनुकरण करो। काँट धर्म का जो अन्तरंग विवरण देते हैं उसे वे धर्म का फॉर्म बताते हैं। इसे हम धर्म की अरूप आकृति कह सकते हैं जो धर्म के कंटेन्ट मात्र को परिभाषित करती है पर जिसका अपना कोई कंटेन्ट नहीं होता : ···पर धर्म केवल फॉर्म तक सीमित नहीं रहता, हमें उसे अनिवार्यत: कंटेन्ट भी देना ही पड़ता है।" (पृ. 31)

इस अध्याय में अब बात साधारण धर्म और परम धर्म की उठाई गई है। धर्म के क्षेत्र में सार्वजनीन औचित्य का आधार खोजते हुए लेखक पाता है कि अहिंसा, सत्य, दया, दान आदि आचरण से सम्बन्ध रखने वाले, या कहा जाय कि आचरण की कसौटी के रूप में हमारे सामने रखे गये सर्वसाधारण धर्मों की स्पष्ट तालिका है जो धर्म-संकट की स्थिति में पंथ दिखाने वाले धर्म भी कहे जा सकते हैं और जिन्हें परम्परा विशेष की सीमा से हटा कर सार्वत्रिक भाव दिया गया है। तो भी निश्चय आसान नहीं है। "साधारण धर्म एक नहीं अनेक होते हैं। इतिकर्त्तव्यता की तुला पर सब बराबर भी ठहराये जाते हैं। पर धर्म-संकट गहराता ही तब है जब दो साधारण धर्मों में से एक को चुनना पड़े और हम चाहे कोई सा धर्म अपनायें···जिसको हम नहीं अपनायेंगे उससे च्युत होकर अधर्म की ओर बढ़ेंगे।" (पृ. 34) जैसे "हम न्याय चाहें तो न्याय के लिए लड़ना भी होता है; लेकिन तब अहिंसा नहीं रहती, दूसरे और भी सत्यों का हनन होता है।" (पृ. 35) लेखक के अनुसार महाभारत में, और शायद वहीं, "धर्मों के बीच के अनिवार्य विरोध से उठते धर्म-संकट के समाधान का भी मार्ग ढूँढने का एक विलक्षण प्रयत्न है।···महाभारत में···परम धर्म की चर्चा बार-बार आई है।···यक्ष-प्रश्न का प्रसङ्ग तो प्रसिद्ध ही है जहाँ आनृशंस्य को परम धर्म कहा गया है।" (पृ. 35) परम धर्म के नाम पर अहिंसा इत्यादि को भी यत्र-तत्र कहा गया है, पर जहाँ तक आनृशंस्य को परम धर्म मानने की बात है "यह शब्द साधारण प्रयोग में तो अनजाना सा है ही, साहित्य में भी, यहाँ तक कि धर्मशास्त्र के लम्बे और विशाल साहित्य तक में, जहाँ उसके प्रयोग का परिचय मिलना स्वाभाविक लगता है, वहाँ भी वह अपरिचित सा ही है। परम धर्म के नाम से तो क्या, धर्मशास्त्र में तो आनृशंस्य की कहीं साधारण धर्मों में भी मैंने गिनती नहीं देखी है।" पृ. 39

ऐसा मानते हुए भी लेखक परम धर्म के रूप में आनृशंस्य पर एक अलग अध्याय की ही आयोजना करता है, किन्तु इसके पूर्व एक (तीसरा) अध्याय है—हमारा मनुष्य भाव : कथा और रस।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है। पुस्तक के अध्याय अलग-अलग निबन्ध हैं जो अलग-अलग उद्देश्य से विभिन्न कालावधि में लिखे गये हैं। उन्हें पुस्तकाकार निबद्ध करने में आपस में जोड़ा गया है, यद्यपि लेखक के ही अनुसार निबन्धों का आपस में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जोड़ ढीला है, फिर भी उन्हें पिरोने का सुन्दर प्रयास देखने लायक है, जैसे इसी अध्याय में है। 'आनृशंस्य' शब्द का प्रयोग केवल महाभारत में मिलता है। महाभारत इतिहास की कथा है। आनृशंस्य की कथाएँ धर्म–संकट के प्रसङ्ग से जुड़ती हैं जो प्रवृत्ति का धर्म है। अहिंसा का समानधर्मी लगता हुआ यह आनृशंस्य उससे इसी बात में भेद रखता है कि अहिंसा निवृत्ति का संकेत देती है तो आनृशंस्य (अ–क्रूरता) प्रवृत्ति का। प्राणियों के साथ व्यवहार करो लेकिन अक्रूरता से, नृशंस भाव से नहीं। जब हम कर्म में प्रवृत्त होते हैं तो कदम–कदम पर धर्म–संकट आयेगा। लेखक का विश्वास है कि ऐसे में धर्म के तत्त्व का आख्यान कथा के माध्यम से ही हो सकता है। इसलिए "जब धर्म को संकटमय देखा जा रहा हो तो धर्म के स्वरूप की ऐसी अन्तरंग बात कथा में ही सही–सही कही जा सकती है।" (पृ. 39)

हमारा मनुष्य–भाव धर्म–अर्थ–काम का जीवन्त युगनद्ध भाव है। श्रेयस् और प्रेयस् दोनों को समेटते हुए, हमारे सभी सम्बन्धों और प्रयत्नों, इच्छाओं और लालसाओं का समन्वित रूप है। इसकी अभिव्यक्ति शुद्ध विचार में उतनी अच्छी हो भी नहीं सकती जितनी कि कलात्मक माध्यम में, चित्रात्मक–विचार में हो सकती है, खासकर समर्थ कथा–साहित्य में। लेखक की इस मान्यता को श्रेष्ठ कला–दार्शनिकों के मत से बल प्राप्त है। कलाकार कथा की सर्जना करते समय हमारे वास्तविक जगत् से अलग एक काल्पनिक जगत् रचता है। यह रचनाकार का एक 'वाञ्छित' जगत् होता है जैसा कि जर्मन दार्शनिक हेगेल मानते हैं कि इसमें वास्तविक जगत् जैसा ही देश है, काल है, हमारे परस्पर सम्बन्ध हैं, प्रयत्न हैं, घटनाएँ घटती हैं, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, नैतिक समस्याएँ हैं, उनका हल है। और, इन सबके माध्यम से जो कुछ कहा जा रहा होता है वह केवल कल्पना मात्र नहीं है, यथार्थ से भी महत्त्वपूर्ण है। लेखक भी ऐसा ही मानते हुए कहता है, "यह जगत् यों तो हमारे व्यवहार के जगत् जैसा ही है, पर बिल्कुल वैसा नहीं है। यह सृष्ट जगत् है। हमारे द्रष्टा–भाव के विमर्श में जागता हुआ, हमारे अनुभव के लोक को साक्षात् अनुभव से हटा कर फिर अनुभव का विषय बनाता है।" (पृ. 44–45) यहाँ पर लेखक ने जाने–अनजाने एक महत्त्वपूर्ण कला–सिद्धान्त का प्रतिपादन/समर्थन कर दिया है कि कथा व्यवहार का सीधा प्रस्तुतीकरण नहीं करती बल्कि व्यवहार में जग रही मन–प्राणों की अभीप्सा का, भाव या संकल्प का प्रस्तुतीकरण करती है, जिसमें एक आदर्श, भले ही वह कितना भी आच्छन्न क्यों न हो, ज़रूर होता है। 'है' का ही नहीं, 'होना चाहिए' का औचित्य–बोध कथा में विशेष सजीव–बोध बन जाता है जो जीवन्तता विचार के सामान्य में सम्भव नहीं। इसीलिए, "कथा यह सम्भव बना सकती है कि हम देश–काल–पात्र–परिस्थिति के सूक्ष्म अन्तरंग भेदों के भीतर झाँकते हुए साधारण धर्मों की विशेष गतियों की, गति–भेदों की टोह ले सकें। धर्म को अगर गुहा–निहित कहा जाता है तो एक कारण यह भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है कि साधारण धर्म का लक्षण जितना व्यापक और सामान्य हो, उसके देश–काल-पात्र–परिस्थिति विशेष में प्रयोग की समस्या उतनी ही कठिन हो सकती है; और इस बात का जैसा आविर्भाव कथा में हो सकता है, किसी विवेचना में नहीं।" (पृ. 47)

लेखक ने जैसे आनृशंस्य में 'प्रवृत्ति' का संकेत देखा वैसे ही उसका मानना है कि "कथा अपने मर्म में ही प्रवृत्ति–प्राण होती है।···हम स्वभाव से ही प्रवृत्तिधर्मी हैं और प्रवृत्ति के इस जीवन में कुछ रस, कुछ आनन्द के—प्रेयस् के—ऐसे सहज ठिकाने हैं जहाँ मन–प्राण को अपना घर मिलता है।" (पृ. 47) लेखक तो यहाँ तक मान कर चल रहा है कि श्रेयस् तक को प्रवृत्तिपरक ही होना चाहिए। वह लिखता है, "श्रेयस् की हमारी साध यह होती है कि धर्म हमारे काम का, हमारे लोक का, हमारे प्रेयस् का निराकरण न करे, हमारी चाह के संसार के भीतर से ही किसी और गहरे औचित्य की प्रेरणा जगा सके—लोक का ही कोई श्रेयस्–तर, ऊर्ध्वतर, 'लोकोत्तर' रूप साध सके।" (पृ. 43)

अगले (चौथे) अध्याय में, जिसका शीर्षक—आनृशंस्य है, लेखक ने महाभारत में आये इस शब्द का विशद विवेचन किया है। उसके अनुसार इसका शाब्दिक अर्थ 'अक्रूरता' है, जिसका एक आशय 'ज़बरदस्ती' या 'बलात्' का न होना भी हो सकता है। यह 'अहिंसा' से सम्बन्ध रखते हुए भी भेद रखता है। अहिंसा निवृत्तिमूलक है। वह संन्यासी या मुमुक्षु का धर्म है, गृहस्थ या लोक–व्यवहार का धर्म नहीं। आनृशंस्य प्रवृत्ति का धर्म है। जीवन का साधक सर्वत्यागी नहीं हो सकता, आनृशंस्य उसका धर्म है। महाभारत में जिस आनृशंस्य की बात आयी है उसकी धारणा में युद्ध या हिंसा से सर्वथा विरति की बात नहीं आती। वहाँ यह 'अभ्युदय' का धर्म है। यह लोकोत्तर का निषेध तो नहीं है लेकिन लोक की गहरी स्वीकृति को आधार बनाता है। इसी सन्दर्भ में धर्म का अर्थ और काम से सम्बन्ध भी स्पष्ट होता है और यह भी कि धर्म का क्षेत्र मनुष्य का परस्पर व्यवहार ही है जिसमें वह प्रेयस् की सिद्धि के साथ ही श्रेयस् को साधने का प्रयत्न करता है। "व्यवहार से जुड़े हुए कर्म के जिस औचित्य का हम धर्म की धारणा के सहारे विचार और विधान करते हैं अर्थ और काम उस कर्म–भूमि की परिधि के अन्तर्गत आते हैं। उस कर्मभूमि का निर्माण करते हैं।" (पृ. 68)

किन्तु उसी महाभारत में एक जगह 'अहिंसा परमो धर्मः' कहा जा रहा है और पुनः अन्यत्र आनृशंस्य को परम धर्म माना जा रहा है। यह ठीक है कि प्रवृत्तिमूलक होने के कारण इसमें अर्थ और काम समाहित हैं और यह परम धर्म भी है, तो भी इसका यह तात्पर्य नहीं कि धर्म कोई 'सामान्य' तत्त्व मात्र है और 'परम धर्म' साधारण धर्मों में गिनाया गया कोई सर्वश्रेष्ठ धर्म है। लेखक ने यह दिखाया है कि 'परम धर्म' कोई सर्वथा दृढ़ प्रत्यय नहीं अपितु परिस्थिति विशेष के प्रति सजग चेतना की अधिमान्यता है। लेखक ने इस सन्दर्भ में महाभारत के कई प्रसंगों के उद्धरण दिये हैं और यह सिद्ध किया

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है कि कब कौन सा कर्म कार्य है इसका बोध करना धर्मों के तारतम्य का, धर्म के विभाग का परिस्थिति को देखते हुए निश्चय करना होता है। कोई बनी–बनायी यान्त्रिक–विधि धर्म–विनिश्चय की नहीं है। "अभिप्राय यही जान पड़ता है कि सत्य अपने आप में परम नहीं, उसके बोले या न बोले जाने से जो सम्पूर्ण परिस्थिति बनती है उस परिस्थिति के श्रेयस् को ध्यान में रखकर ही सत्य का औचित्य तोला जा सकता है।" (पृ. 75) यही तरीका परम धर्म के निर्धारण में भी हमारी सहायता करता है। लेखक परिस्थिति के श्रेयस् को तोलने के दो मानदण्ड प्राप्त करता है जो परम धर्म के रूप में आनृशंस्य की प्रतिष्ठा करते हैं। इनमें एक है—अ–वध और दूसरा है प्रभव। यही आनृशंस्य है—प्राण या जीवन का अभ्युदय। ये दोनों मिलकर ही आनृशंस्य की धारणा को प्रकाशित करते हैं।

धर्म के तत्त्व की परिस्थिति विशेष में तोल करने की जो बात की जा रही है वह बिना किसी विषम किन्तु जीती–जागती परिस्थिति को आगे रखे नहीं की जा सकती। जैसा कि दिखाया गया है, यह काम कथा के माध्यम से ही किया जा सकता है। व्यवहार के बीच ही उसकी व्याख्या हो सकती है, कोरे विमर्श की भाषा में नहीं। मानव–परिस्थिति में कर्म की गति के साथ उपयुक्त भाव–रस जगा कर ही बात स्पष्ट की जा सकती है। यही कारण है कि धर्म की व्याख्या करने वाले हमारे महान् ग्रन्थ विषम परिस्थितियों को दर्शा कर तब उपदेशात्मक समाधान कथानक के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। यही धर्म–प्रज्ञा है, जिसमें धर्म अपने आप में करणीय मात्र है ऐसा नहीं है, जैसाकि काँट कहते हैं, बल्कि उसमें यह चाह और चेष्टा भी मिलती है कि कर्म का परिणाम स्वस्ति हो। वह सफल और सुफल हो। आनृशंस्य इस समूचे भाव को समेटे है, जो "पूरी परिस्थिति को देखकर, उसे तोलता हुआ, उससे अमंगल हटा कर, उसे और मंगलमय बनाना चाहता है।···मंगल में श्रेयस् और प्रेयस् दोनों के निखार का भी भाव है—धर्म और काम दोनों का स्वस्ति–संगम।" (पृ. 86)

परिस्थिति विशेष में क्या धर्म हो, इस पर 'धर्म–विभाग और धर्म–संकट' नामक एक अलग (पाँचवें) अध्याय की संरचना की गई है। क्या वस्तुतः कोई परम धर्म हो सकता है? सार्वदेशिक, सार्वकालिक, एकरस! लेखक का उत्तर है—धर्म को व्यवहार के धरातल से उठा दिया जाए और विशुद्ध परमार्थ के धरातल पर बैठा दिया जाए तब ऐसी कोई परम कसौटी बन सकती है। यही कारण है कि महाभारत ने परम धर्म की व्याख्या तो की, साथ ही धर्म–विभाग की भी बात की। अब स्थिति और संकटमय हो जाती है—"धर्म–विभाग धर्म को एक नहीं अनेक मानकर यह सिद्धान्त सामने रखता जान पड़ता है कि कोई सा धर्म अपने आप में उचित–अनुचित नहीं होता। औचित्य का निर्णय, कौन सा धर्म कब ठीक रहेगा, यह अध्यवसाय, देश–काल–पात्र को देख कर ही किया जाना चाहिए।" (पृ. 87–88) इस प्रकार "धर्म में सचमुच विभाग हो तो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसका यही अर्थ हो सकता है कि 'परम' धर्म ही अनेक हैं···धर्म को एक कहना भी उसे व्यवहार की जीवन्त भूमि से हटा देना होगा—देश-काल-पात्र—परिस्थिति के भेद को झुठलाना होगा।···धर्म के क्षेत्र में परम धर्मों का अनैक्य ही धर्म-संकट का भी परम बीज है।···हम अगर धर्म को लोक-व्यवहार, अनुभव, इनसे हटा दें तो शायद धर्म-संकट भी न हो और धर्म-विभाजन की बात भी न उठे। कृष्ण की कहानी के लोक-निवृत्त, वैराग्यशील तपस्वी को कोई धर्म-संकट नहीं हुआ था। पर धर्म को यों परम लोकातीत या लोकोत्तर बना देने पर···क्या धर्म फिर कर्म की भी कोटि से नहीं हट जायेगा?" (पृ. 88)

धर्म 'धारण' करने वाला कहा गया है। पर यह हमारा तभी धारण करता है जब हम इसको धारण करते हैं : धर्मो रक्षति रक्षितः। जब हमको धारण करने वाली व्यवस्था और हम परस्पर एक-दूसरे को धारण करते हैं तो सामान्य स्थिति होती है। "धर्म की यह 'धारक' व्यवस्था अपने विराट् रूप में मनुष्य मात्र की···समष्टिगत व्यवस्था है जिसे आज हम 'संस्कृति', 'सभ्यता', 'समाज' जैसे नामों से पुकारते हैं।···मनुष्य के जगत् को जब धर्म, अर्थ, काम इनकी बुनावट कहा जाता है तब तात्पर्य यही होता है कि धर्म वह तत्त्व है जो 'अर्थ' : राज्य, समाज और इनके कार्य-कलापों में : और 'काम' में : हमारी इच्छा-अभिलाषाओं के स्वच्छन्द प्रवाह में : इन दोनों में एक औचित्य का सामंजस्य बनाये रखता है। इसे ऋत का छन्द भी कह सकते हैं। इस ऋत-छन्द के 'बन्ध' को, इसके विन्यास को, मनुष्य ही अपने कर्म से बनाये रखता है।" (पृ. 93) उसके कर्म को धर्म की दृष्टि से समष्टि और व्यष्टि कर्म के अलग-अलग रूपों में देखा जा सकता है। "धर्म को जब हम मनुष्य के धारक रूप में लेते हैं तो संकेत समष्टि की व्यवस्था के औचित्य की ओर होता है—समष्टि-व्यवहार की मर्यादा की ओर।" (पृ. 93-94) मनुष्य में सहज, स्वभाव-सिद्ध परस्पर-भाव है। उसी के चलते यह समष्टि—समाज, संस्कृति, सभ्यता—सिद्ध हो पाती है। यह भाव मनुष्य के मूल में, उसके स्वातन्त्र्य में स्थापित है। वह ऐसा करने-न करने में स्वतन्त्र है। स्वातन्त्र्य और विवेक के अधिकष्ठान के रूप में, कर्त्ता के रूप में समष्टि और उसकी मर्यादा में रहकर वह कर्म करता है। यद्यपि ऐसी मर्यादा का धारण व्यष्टि के ही माध्यम से होता है, पर हमारे समष्टि-जीवन की गति अपने अलग प्रवाह से ही चलती है।

लेखक धर्म के समष्टिगत चक्र को अक्सर गति से अधिक गतिरोध में फँसा मानता है। वह लिखता है, "अगर उसके स्वरूप का छन्द किसी ऋत जैसी व्यवस्था का छन्द है तो छन्दोभंग की स्थिति ही अक्सर दिखाई देती है, छन्द-प्रबन्ध की, व्यवस्था की नहीं। अचम्भा नहीं कि पुराणों में धर्म को एक ही पाँव पर खड़ा माना गया है।" (पृ. 94) धर्म के इस व्यापक प्रवाह या धारा के अपनी मर्यादा में चलते रहने में जब किसी तरह का गतिरोध आता है तब आपद्धर्म की बात की जाती है। और लेखक भी यहाँ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपने विमर्श में आपद्धर्म की चर्चा करता है, जिसका सम्बन्ध किसी स्वीकृत, उचित मर्यादा के अप्रत्याशित बिगड़ने से है। धर्म और अधर्म में भेद करना वैसे भी दुरूह कार्य है, विशेष कर आपदा के समय, किन्तु जब व्यवस्था में भंग या विकार आ जाता है तो यह कार्य और भी दुष्कर हो जाता है। धर्म अधर्म का रूप ले लेता है, अधर्म धर्म का। "आपदा में आपद्धर्म की आवश्यकता होती है जिसकी गति स्वाभाविक समय के धर्म से भिन्न होती है, आपत्काल की इति-कर्त्तव्यता उस समय से उल्टा रूप ले लेती है जब सब कुछ व्यवस्थित, ठीक-ठीक चल रहा हो; जिसे हम साधारण अवस्था में अधर्म समझते हैं वह भी आपत्ति में धर्म की तुला पर खरा उतरता है।" (पृ. 92-93)

लेखक ने इस बात का ठीक ही उल्लेख किया है कि आज नीतिशास्त्र में आपद्धर्म की व्यवस्था नहीं है। "आज के धर्म (मॉरल) चिन्तन में ऐसी कोई धारणा है भी तो स्पष्ट नहीं है। हमारे यहाँ के धर्मशास्त्रों में इसका बड़ा स्थान है।" (पृ. 93) लेकिन ऐसा प्रतिबन्ध भी है कि चाहे जब इसका प्रयोग न कर दिया जाय। देखें महाभारत के उस प्रसङ्ग में जहाँ युधिष्ठिर से युद्ध के आसन्न होने पर संजय द्वारा उसे टालने की बात की जाती है और युधिष्ठिर द्वारा यह कहा जाता है कि—"प्रकृति के (स्वभाव के) लुप्त हो जाने पर जो कर्म किया जाता है तब वह जिस (धर्म के) आधार पर किया जाता है (वह आपत्-धर्म है। अनापत्-काल में) हीन (पुरुष) ही उसे काम में लेता है। पर जो आपत् के समय प्रकृत धर्म का प्रयोग करता है वह भी निन्दनीय है...।" (पृ. 95)

युद्ध सामान्य रूप से चल रही समाज-व्यवस्था के अमन-चैन में गतिरोध है। लेखक ने प्रश्न उठाया है कि क्या युद्ध को आपद्धर्म की कोटि में रखा जा सकता है? यदि हाँ, तो यह व्यक्तिगत नहीं, समष्टिगत आपद्धर्म होगा। वह विमर्श करता है, "युद्ध व्यवस्था विशेष का नहीं, मनुष्य के स्वभाव का ही अङ्ग है। यह जानते हुए ही हम अवध को धर्म कहते हैं।...धर्म के कर्त्ता मात्र के लिए युद्ध करने-न करने का प्रश्न एक चिरन्तन संकट बन कर खड़ा रहता है।...युधिष्ठिर युद्ध के संकट-स्वरूप को एक अस्थायी आपत् भर बना देना चाहते थे।" (पृ. 98) लेखक इसे उपयुक्त नहीं मानता। वह आगे लिखता है, "और प्रश्न केवल व्यक्ति के स्तर पर ही नहीं होगा। समष्टि के स्तर पर और भी तीखा बनकर उठेगा कि क्या राज्यों को युद्ध करना चाहिए या नहीं? जो युधिष्ठिर की तरह राजा हो, उसके लिए यह प्रश्न किसी अस्थायी आपत्-काल का नहीं राज्य-संचालन के आठ पहर की इतिकर्त्तव्यता का प्रश्न होगा। और प्रश्न को यों ही लिया भी जाना चाहिए। और फिर मैं समझता हूँ कि प्रश्न केवल परिस्थिति विशेष के स्वस्थ-अस्वस्थ भाव तक सीमित आपद्धर्म का ही नहीं रह जाता, धर्म के भीतर ही बड़ा घोर संकटमय प्रश्न हो जाता है।" (पृ. 98)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपर्युक्त उद्धरण से यह विदित होता है कि लेखक ने शास्त्र में आये सन्दर्भों को कितना बारीकी से जाँचा-परखा है और स्वाभाविक तथा युक्तिसंगत निष्कर्ष निकाले हैं। अब उसके समाधान खोजने की बानगी भी देखिए, "मनुष्य के प्रवृत्ति-जीवन को उचित मान कर अगर हम धर्म का विचार करें तो लगता है कि 'अवध' को आदर्श मानते हुए भी उसमें 'वध' के लिए जगह बनानी होगी। गृहस्थी के छोटे-मोटे मशक-मूषक आदि के वध की ही नहीं, मनुष्य-वध की भी जगह बनानी होगी। राज्य दण्ड पर चलता है, वह युद्ध में ही वध नहीं करता, युद्ध के बाहर भी वध का दण्ड देता ही है। ऐसे वध को हम सही अर्थ में वध ही नहीं मानते, हालाँकि वह भी संकल्पकृत ही होता है।…हम अवध को धर्म मानते हुए भी वध के प्रकारों में गहरा भेद करते हैं, कुछ को 'धर्म्य' की कोटि में रख देते हैं…।" (पृ. 99) युधिष्ठिर का युद्ध सम्बन्धी यह प्रसङ्ग लेखक के विश्लेषण से बौद्ध-जैन मत की अहिंसा, जो निवृत्तिमूलक है, के अन्तर को स्पष्ट कर दे रहा है, क्योंकि "युधिष्ठिर इस बात से इन्कार नहीं करते कि अवध ही परम धर्म है। पर प्रवृत्ति-धर्म का पालन करते हुए युद्ध का निषेध भी नहीं कर सकते।…परिस्थिति विशेष में युद्ध भी धर्म हो सकता है, जब लड़ाई के सिवा कोई रास्ता न हो; जब धर्म ही एक तरह से युद्ध की ओर प्रेरित कर रहा हो। इसे ही महाभारत ने 'धर्मयुद्ध' की स्थिति कहा है।" (पृ. 100)

पुस्तक के अन्तिम अध्याय में अवध और सत्य से सम्बन्धित अलग से विचार किया गया है। यहाँ चर्चा को आगे बढ़ाते हुए लेखक लिखता है कि "इस प्रसङ्ग में संजय के आगे कुछ धर्मों को कृष्ण श्रेय की कोटि में रखते हैं, इनमें अवध की गिनती नहीं है। पहला धर्म सत्य है। कृष्ण यहाँ अकर्म या निष्कर्म—निवृत्ति—के ऊपर कर्म-प्रवृत्ति को एक ओर निसर्ग-सिद्ध और दूसरी ओर श्रेयस्कर, इन दोनों तरह से धर्म्य बताते हुए सत्य को प्रवृत्ति के साथ जोड़ते हैं, निवृत्ति के साथ नहीं।" (पृ. 101) प्रवृत्ति के साथ जुड़े होने के नाते धर्म की गाँठ यहाँ भी परिस्थिति के सूत्रों से बँधी है। जो प्रज्ञाशील है, सभी धर्मों को समझने वाला (धर्म-विभाग में कुशल) है, श्रेयस् का मर्म समझने वाला है, वही सारी परिस्थिति को जानते-तोलते हुए कार्याकार्य का निश्चय कर सकता है। इस प्रकार, लेखक ने महाभारत से युधिष्ठिर और कृष्ण के संवादमय उपाख्यान को उद्धृत करते हुए यह स्पष्ट किया है कि उन दोनों विशेषज्ञों के मत में देश-काल-पात्र की तुला पर विभिन्न धर्मों को सामने रखते हुए ही धर्म की इतिकर्त्तव्यता का उचित अध्यवसाय किया जा सकता है।

धर्म-विभाग की धारणा धर्म को अनेक मान कर चलती है और धर्म को अनेक मानने में ही संकट का बीज समाया है। (पृ. 106) या तो एक 'परम धर्म' मान लेने पर संकट की वैसी स्थिति नहीं आती जैसा कि पहले कहा जा चुका है, "या और भी ज़ोर देकर हम कह सकते हैं कि धर्म-संकट उसी को होता है जो धर्म में स्थित नहीं है।" (पृ.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

107) ऐसा इसलिए कि धर्म में स्थित रहने वाला धर्म के साथ धर्म के फल या परिणाम को नहीं जोड़ता। "धर्म तो चेतना के स्वतन्त्र स्वरूप का शुद्ध शिव संकल्प है, हमारा कर्म उसमें स्थित रहना चाहिए, यही धर्म की इतिकर्त्तव्यता है। परिणाम जिस जगत् में होते हैं उसका स्वरूप कुछ और है, वह अपने अलग नियमों से चलता है।…जिसका धर्म की गति से कोई सम्बन्ध नहीं।…धर्म अपने परमार्थ में एक और अखण्ड है, व्यवहार…जीवन की अपनी माँगों को पूरा करने के लिए…सौ नियम बनाता है, पर इन्हें धर्म नहीं कहना चाहिए। ये नीति की बातें हैं, सुविधा की बातें हैं। धर्म की नहीं।" (पृ. 107) ऐसा लगता है कि यह विश्लेषण धर्म को व्यवहार–नीति से काट रहा है। तब धर्म धारण किसको करेगा? लेखक में विश्लेषण करने की बेजोड़ क्षमता है। वह समस्या को उलझाता है तो सुलझाता भी दीखता है और अपनी बात पर आ जाता है। हम देखें कि वह यह मान कर चला था कि एक अखण्ड धर्म मानने पर धर्म–संकट की समस्या नहीं आती, किन्तु अब वही यह निष्कर्ष निकालने में पूर्णरूप से समर्थ है कि तब भी धर्म–संकट की समस्या मुँह बाये खड़ी रहेगी। "यह ठीक है कि धर्म के लिए संकल्प-शुद्धि साध्य है, पर धर्म–संकट उभरता ही इस शुद्धि में है।" (पृ. 113)

धर्म–विभाग की बात करने वाले श्रीकृष्ण सम्भव है स्वयं कभी धर्म–संकट अनुभव नहीं करते हों, क्योंकि वे मनुष्य नहीं, ईश्वर के अवतार हैं और यों सर्वज्ञ हैं। वे समस्त कर्म–प्रवाह का अन्तिम फल तक जानते हैं। "धर्म–विभाग करते हुए किस धर्म का कब प्रयोग समीचीन है, किससे प्रभव होगा, इस निर्णय का आधार धर्म–प्रज्ञा का परिणाम–दर्शन होता है, जो कृष्ण में स्वरूप से है।" (पृ. 109) परन्तु हमारे लिए यह सब सम्भव नहीं है। हम किसी अन्तिम परिणाम का दर्शन नहीं कर सकते। परिस्थितियों को कहाँ तक परखें? "उनका घेर, देश–काल–पात्र में फैलाव, हमारे लिए ओझल ही रहता है।" (पृ. 109) इस सन्दर्भ में लेखक अपने विमर्श में नीति और धर्म को कुछ अलग–अलग आँकते हुए कहता है, "ऐसे बहुत से लोग होते हैं, खास कर वे जिन्हें हम कर्मठ या कर्म–प्रज्ञ कह सकते हैं, जिन्हें 'क्या करना है?' यह संशय सताता–सा नहीं लगता। कर्म में उनकी अध्यवसाय–बुद्धि, या गीता में जिसको 'व्यवसाय–बुद्धि' कहा है वह निष्कम्प निश्चय–बुद्धि, सचमुच ही 'एकेह', अडिग, एकाग्र–सी लगती है। स्थिरता से, दृढ़ता से, झट निर्णय करती है। ऐसी स्थित–प्रज्ञ जैसी व्यवसाय–बुद्धि नीति–निष्ठ भी हो सकती है, धर्म–निष्ठ भी। क्योंकि 'अब क्या करना है?' यह प्रश्न धर्म के औचित्य का भी हो सकता है, नीति के औचित्य का भी हो सकता है। कर्मठों के समुदाय में नीतिनिष्ठ ही अधिक दिखते हैं, धर्मनिष्ठ कम, पर होते हैं। यों तो सही बात यह लगती है कि कर्म के प्रश्न में नीति और धर्म दोनों युगनद्ध से ही होते हैं, पर इतना अन्तर हम फिर भी कर सकते हैं—और कर भी आये हैं—कि नीति कर्म को उपाय के रूप में ही देख कर उसका औचित्य जाँचती है जबकि…धर्म के लिए 'उपाय' का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

औचित्य किसी 'उपेय' द्वारा निर्धारित नहीं हो सकता। उपाय भी यहाँ अपने आप में उपेय ही होता है—धर्म की ही तुला पर तोला जाता है।" (पृ. 108)

लेखक इस सम्भावना पर भी विचार करता है कि क्या जो वास्तव में धर्मशील होते हैं—धर्मनिष्ठ या धर्मप्रज्ञ होते हैं—उन्हें धर्म-संकट नहीं सताता? धर्म-संकट उपस्थित तो उनके सामने भी होता है ज़रूर, किन्तु "जिन्हें हम कर्मप्रज्ञ या धर्मप्रज्ञ कह रहे हैं, ऐसे लोग संकट में टूट नहीं जाते, ग्लानि और विषाद में नहीं डूब जाते, डूबते भी हैं तो अन्तर के किसी ऐसे अगाध में जहाँ चित्त त्रस्त-क्षुभित नहीं होता।" (पृ. 108) लेखक फिर, अपनी बात पर वापस होने के लिए करवट लेता है, विचार में पलटा खाता है। "पर प्रश्न तो सचमुच यह है कि धर्म में संकट होता है या नहीं? होता है तो उसका रूप क्या है? उससे क्षुब्ध होना या न होना तो यहाँ अवान्तर बात ही हो सकती है।" (पृ. 109)

व्यष्टि-धर्म और समष्टि-धर्म नामक छठे अध्याय में लेखक यह बताता है कि "धर्म में दो तत्त्व ऊह्य दिखते हैं : स्वातन्त्र्य और अनैक्य।···कर्म के औचित्य को जब हम धर्म का नाम देते हैं तो एक पूर्वाग्रह-ऊह्य मान्यता होती है कर्त्ता का कर्म में स्वतन्त्र होना। दूसरा···धर्मों का अनैक्य।" (पृ. 118) अनैक्य तो कर्म का भी होता है। "कर्म का अनैक्य न हो तो चयन का, उचित अनुचित का—और यों धर्म का—प्रश्न ही नहीं उठता" (पृ. 120) धर्म-बोध कर्म के सम्भाव्य अनैक्य में से किसी 'एक' को पाने के लिए ललकता है···नहीं तो कर्म ही सम्भव नहीं। कर्म का अनेक सम्भावना का ही अनेक हो सकता है 'करने' का नहीं। धर्म-चिन्तन के विवेक का ध्येय ही होता है कि सम्भावना का अनेक उचित एक में "सिमट जाए···।" (पृ. 120) कर्म में हम अनेक को जब हटा देते हैं तभी कर्म सम्भव होता है। (पृ. 121) निष्कर्षत: "शायद हम यह भी कह सकते हैं कि अपने-अपने अनुभव के देशकालमय संसार को जो हम एक समझते हैं उसका आधार ही कर्म-लोक का एकत्व है, जहाँ व्यष्टि-रूप में हमारा कर्त्ताभाव कर्त्ता-समष्टि के एकत्व में बसता है। ऐसा न हो तो कर्म-क्षेत्र ही बाधित हो जाएगा।" (पृ. 121)

यहाँ प्रसंगवश लेखक ने दायित्व, कल्पना, क्रिया, कर्म और उनमें अन्तर की भी बात की है। जैसे, दायित्व के विषय में वह लिखता है, "यों तो धर्म का प्रश्न प्राणिमात्र के प्रति हमारे आचरण में उठता है, पर कर्म का सार मनुष्य के प्रति कर्म में ही है। फिर, एक बात तो है ही : प्राणिमात्र के प्रति जो इतिकर्त्तव्यता का प्रश्न उठता है वह धर्म के एकदेश का ही प्रश्न होता है—अहिंसा का प्रश्न होता है, सत्य का नहीं—क्योंकि सत्य का, न्याय का प्रश्न तभी उठता है जब जिसके प्रति कर्म किया जाता है उसे भी स्वतन्त्र कर्त्ता माना जाए। मनुष्य एवं मनुष्येतर प्राणियों के 'व्यवहार' को पूरी तरह 'कर्म' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। क्योंकि जिसके प्रति कर्म किया जा रहा है उसे हम अपने बर्ताव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के लिए उत्तरदायी नहीं ठहरा सकते।" (पृ. 119) फिर, "दायित्व में किसी के प्रति उत्तरदायत्वि का भी बोध काम करता है।···उसके पीछे सत्य का एक प्रण होता है : दिये गये वचन को सत्य रखने का प्रण···तभी हम उत्तरदायित्व की बात करते हैं, 'वचन क्यों नहीं रखा गया, उत्तर दो!'···पर दायित्व प्राणी मात्र के प्रति भी हो सकता है, जहाँ दायित्व में परस्पर-भाव की कोई अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि जिसके प्रति हम अपने आप को दायी समझते हैं, उसे अपने प्रति दायी नहीं समझते।···पर सही अर्थ में दायित्व दूसरे स्वतन्त्र कर्त्ता या कर्त्ताओं के प्रति होता है।···दायित्व का प्रश्न अगर दो के बीच है तो दोनों किसी तीसरे के पास आ सकते हैं, उसे बीच में रख सकते हैं। तीसरे का यह धर्म बन जा सकता है कि वह मध्यस्थ रह कर सत्य का विचार करे। न्याय करे। सत्य का सम्बन्ध यहाँ प्रकट ही तीनों के दायित्व-बोध से होगा।···मध्यस्थ के दायित्व में सत्य का एक और आयाम होगा : दोनों में कौन 'सही' है इस तथ्य का निर्णय करना, दण्ड का विधान करना।" (पृ. 119-120) यहाँ निश्चय ही, बहुत अच्छा विश्लेषण हुआ है।

कर्त्ता के धर्म-तन्त्र होने पर उसे परतन्त्र क्या नहीं कहा जाय? इस प्रश्न पर विचार करते हुए लेखक ने 'इच्छा और स्वतन्त्रता' का अभूतपूर्व विश्लेषण किया है। वह यह तो मानता है कि 'स्वतन्त्र' का अर्थ 'स्वैरतन्त्र' नहीं हो सकता, फिर भी, स्वतन्त्र कर्त्ताओं का जो तन्त्र बनता है उसका व्यक्ति की इच्छा से क्या सम्बन्ध है और उसमें रहते हुए व्यक्ति की स्वतन्त्रता का क्या अर्थ है, इसका वह गहन अनुशीलन करता है। आधुनिक चिन्तन ने अनेक को एक में पिरोने वाले तन्त्र का इच्छा से सम्बन्ध जोड़ने के लिए समझौते का सिद्धान्त दिया। मनुष्य-समष्टि ने अपनी इच्छा से परस्पर व्यवस्था का एक समझौता, एक समय-बन्ध स्वीकार किया जो अधिक से अधिक कर्त्ताओं को अधिक से अधिक इच्छा के प्रयोग के लिए स्वातन्त्र्य दे सके। "इच्छा का यह जाल टकराहट बुनता है।···यह आपसदारी का समझौता कोई निर्धारित संविधान नहीं है पर एक व्यवस्था-सूत्र का प्रच्छन्न स्वीकार है। हमारी व्यवस्था, हमारा तन्त्र, यह चेष्टा करता रहेगा कि अधिक से अधिक की इच्छा-पूर्ति को अधिक से अधिक अवकाश मिले। बुद्धिमानीं का यह आदिम समझौता ही मनुष्य की व्यवस्था और न्याय की आधारशिला है।···भिन्न समाजों और भिन्न कालों में इस समझौते का पालन ऊँच-नीच की सीढ़ियाँ चढ़ता-उतरता रहता है। फिर भी यह आद्य सन्धि या समय-बन्ध ही मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छापूर्ति का साधक है, उसे स्थान देता है।···हमारी व्यवस्था, जो हमारी दण्ड-व्यवस्था है, यह ध्यान रखती है कि इसका पालन हो। और यों भी हमारी समझदारी कहती ही है कि इस समय-बन्ध का हम ध्यान रखें तो अपने समाज-तन्त्र, राज्य-तन्त्र और व्यवहार-तन्त्र (कानून) को सबकी या अधिक से अधिक की स्वेच्छा-सिद्धि का मार्ग बनाने में सक्षम कर सकते हैं···।" (पृ. 124-125)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समझौते के इस प्रसिद्ध सिद्धान्त पर वह प्रश्न उठाता है– "तन्त्र या व्यवस्था का यह चित्र, जो एक आदर्श चित्र भी माना जाता है, उसके विषय में एक सीधा सा प्रश्न तो पहले ही उठता है : क्या यह चित्र किसी धर्म–तन्त्र का चित्र कहलाने योग्य है भी? या यह नीति–तन्त्र का चित्र है? सुविधा–तन्त्र का? मुझे लगता है कि यह धर्म और नीति दोनों के बीच कहीं झूलता हुआ चित्र है।···इस चित्र में स्वार्थ और परार्थ–भाव, इन दोनों का विचित्र सा मेल है।···चित्र का भाव यह है कि हैं तो हम स्वार्थी, पर स्वार्थ के लिए ही हमें परार्थ का भी ध्यान रखने को बाध्य होना चाहिए। हम परार्थी हैं नहीं, पर अपने आप को परार्थी भी रखना चाहिए, क्योंकि इसी में हमारा स्वार्थ है। इस चित्र में अगर कोई सच्चाई है भी तो यह बात नीति की ही हो सकती है, धर्म की नहीं।" (पृ. 125)

अस्तु, लेखक मान रहा है, और यह ठीक भी है कि "समझौते का यह स्वार्थ-प्राण चित्र पूरी तरह स्वार्थ पर आधारित नहीं हो सकता।···इसमें एक प्रच्छन्न परार्थ-कामना है···अपनी ही नहीं मानव मात्र की अधिक से अधिक इच्छापूर्ति की बात है। इस बात को स्वार्थ के साथ अपनी इच्छापूर्ति के साथ जोड़ा गया है···बात को कुछ ऐसे रखा गया है मानो सबकी अधिक से अधिक इच्छापूर्ति की कल्पना न हो तो अपनी इच्छापूर्ति भी संशय में पड़ जाएगी। पर इस युक्ति में न कोई दम है, न इसका कोई आधार है।···स्वेच्छापूर्ति की साधना ही जिसका स्वभाव है, ऐसा मनुष्य व्यवस्था की ओर झुके भी तो केवल इसलिए झुक सकता है क्योंकि उसकी इच्छा अन्य को भी अपनी इच्छापूर्ति का साधन बनाना चाहती है—ऐसे में दण्ड का ही साम्राज्य हो सकता है···कोई परस्पर भावजन्य 'समझौता' कैसे बनेगा?" (पृ. 126)

व्यष्टि और समष्टि को जोड़ने वाले कुछ और सूत्रों को भी लेखक टटोल कर ले आता है। इस क्रम में वह कहता है, "आनृशंस्य, प्रभव, ये समष्टि–धर्म हैं, इनका सम्बन्ध समूह, अनैक्य के साथ है।···पर ऐसे धर्मों की भी बात की जा सकती है और परस्पर भाव के ही सम्बन्ध में ही की जा सकती है, जिनका सम्बन्ध समष्टि से नहीं, व्यष्टि से है, पर जो व्यष्टि और समष्टि के बीच धर्म के सूत्र भी हैं : ऐसे धर्म व्यष्टि के कुछ गुण हैं : मैत्री, करुणा, अनुकम्पा, परदुःख–दुःखित्व···ये न हों तो किसी धर्ममय परस्पर–भाव की भी बात नहीं की जा सकती।···ये व्यष्टि–धर्म हैं, पर इनका मर्म व्यष्टि और व्यष्टि के बीच अभेद में है। इसीलिए इन्हें परस्पर भाव का बीज और आनृशंस्य का आधार कहा जा सकता है।" (पृ. 139) इनका आधार व्यष्टि ज़रूर है किन्तु ये उसी तक सीमित नहीं हैं।

पुस्तक के सातवें और अन्तिम अध्याय 'सत्य और आनृशंस्य' में लेखक ने इन दोनों पर तुलनात्मक विचार प्रस्तुत किया है और वह मान कर चलता है कि धर्म के भीतर ही सत्य और आनृशंस्य में विरोध दिखायी देता है। उसके मत में आनृशंस्य को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अहिंसा—प्रवृत्तिमयी प्रभवनिष्ठ अहिंसा का—पर्याय कह सकते हैं। इसका सम्बन्ध मैत्री, करुणा आदि जैसे भावों से भी है जबकि सत्य समष्टि-धर्म है। उसका सम्बन्ध दायित्व-बोध से है, न्याय से है, जो व्यवस्था के परम औचित्य की धारणा है। ऐसे में आनृशंस्य व्यवस्था का धर्म नहीं बल्कि सत्य ही व्यवस्था का धर्म है। आनृशंस्य और प्रभव का युगल सत्य और प्रभव के युगल से बहुत भिन्न है। राजा क्षेमदर्शी के शत्रु राजा जनक का मंत्रि बनने के बाद "प्रश्न था, कि यदि वे आनृशंस्य से राज्य चलाते तो व्यवस्था कैसी करते? सत्य को, न्याय को, दण्ड को आनृशंस्य में कैसे समेटते? और भी गहराई से पूछें तो : व्यवस्था का धर्म क्या है? : व्यक्तिनिष्ठ आनृशंस्य का आधार हमने 'भाव' में ढूँढा। सत्य के वैसे किसी आधार की बात हो सकती है क्या जिसके बोध का अनुरणन हम अपने भीतर भी पा सकें? हमने दायित्व की बात की। इसे हम अपने ही बोध में सत्य की ओर उन्मुख एक धर्म-संगत, परार्थ-प्राण प्रवणता या प्रवृत्ति कह सकते हैं। पर एक और अच्छा···शब्द है···श्रद्धा।···जैमिनीय ब्राह्मण के एक प्रसङ्ग में याज्ञवल्क्य ने कहा है कि सच्चा यज्ञ—या यज्ञ का मर्म कहिए—श्रद्धा में सत्य की आहुति देना है।" (पृ. 149)

विमर्श का प्रश्न होगा : श्रद्धा सत्य का आधार कैसे? लेखक श्रद्धा के प्राचीन प्रयोग को ही विमर्श का आधार बनाता है जो धर्म के प्रसङ्ग में और जिसे धर्म का सत्य कहा जा रहा है उस प्रसङ्ग में बड़ा सार्थक है। "याज्ञवल्क्य ने बात यज्ञ के प्रसङ्ग में उठाई थी और यज्ञ का प्रसङ्ग धर्म जैसा प्रसङ्ग ही है। वहाँ भी कर्म के अन्तरंग औचित्य कीं खोज जागती है। ऋत की खोज जागती है।" (पृ. 150)

कोई भी धर्मशील व्यक्ति न्याय-अन्याय, धर्म के सत्य-असत्य का विचार करना चाहेगा। "व्यवस्था का मर्म है न्याय। न्याय एक बोध भी है।···न्याय दायित्व-बोध की परीक्षा है।···किसने अपना दायित्व भंग किया, यह परीक्षा की जाती है।···न्याय आनृशंस्य की नींव चाहता है।···पर न्याय के साथ आनृशंस्य-घातक दण्ड भी स्वयंभू सा आ खड़ा होता है। जो दायित्व से चूके वह दण्ड का अधिकारी हो जाता है चाहे दण्ड का स्वरूप कुछ भी हो···प्रायश्चित ही हो···पर प्रायश्चित भर से न्याय की माँग पूरी भी नहीं होती।···अपराधी प्रायश्चित भी करे तो क्या जिसके प्रति अपराध किया गया उसको न्याय मिल जाता है? ठीक है, अपराध का पात्र क्षमा कर सकता है, पर क्षमा न्याय का मर्म नहीं हो सकती।" (पृ. 172-173) न्याय की धारणा को स्पष्ट करते हुए लेखक आगे कहता है, "न्याय में धर्म के अनैक्य में निहित परस्पर भाव से प्रतीप परस्पर भेद का पक्ष महत्त्व का होता है।···एक राजा को अलग, समान और स्वतन्त्र मानना अनिवार्य है।···न्याय करने वाले और न्याय के पात्र···दोनों मनुष्य होते हैं; मनुष्य-सुलभ राग-द्वेष, अधर्म-अन्याय के भागी, जबकि न्याय की माँग विचित्र है : यह कि न्यायकर्त्ता मनुष्य भी हो पर न्याय के पात्रों से ऊपर भी हो; निष्पक्ष, वीतराग हो,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर साथ ही मनुष्य की वासना का बोध रखता हो, उसमें वासित हो।…क्योंकि अगर न्यायकर्त्ता मनुष्य न हो तो मनुष्य की 'वासना' को समझे बिना मनुष्य का आनृशंस्यसम्मत न्याय करेगा ही कैसे? अमनुष्य यहाँ अधिकारी ठहराया ही नहीं जा सकता।" (पृ. 173) लेखक ने यहाँ न्याय-सम्बन्धी बड़ी ही मौलिक धारणा प्रस्तुत की है। इस धारणा की ईश्वरीय न्याय, प्राकृतिक न्याय या मनुष्यकृत न्याय के विविध प्रकारों से तुलना करनी चाहिए। जहाँ तक न्यायकर्त्ता के मनुष्य की वासना के बोध का प्रश्न है तो 'वासित' होकर न्याय होगा ही नहीं। यह तो अति उदारवादी आजकल के लोकतन्त्रों जैसा मत है। न्याय में समानता की बात ठीक है किन्तु मनुष्य समान होता कहाँ है? वैसे ही, "स्वतन्त्रता तो धर्ममात्र के लिए आवश्यक है, चाहे धर्म का भाव पक्ष हो या दायित्व पक्ष, जिससे कि न्याय-बोध उभरता है।" (पृ. 173)

धर्म में 'न्याय' की अवधारणा को महत्त्वपूर्ण मानते हुए लेखक लिखता है कि "न्याय को धर्म का धर्म-संकट ही नहीं मर्म-संकट भी कह सकते हैं। क्योंकि…न्याय राजधर्म का सार है और राजधर्म के बिना दूसरे धर्मों का भी 'धारण' नहीं होता।…न्यायकर्त्ता के रूप में राजा की सत्ता विचित्र ही लगती है…वह व्यष्टि होता हुआ भी समष्टि होता है, और तभी उसमें एक विशेष समष्टि-समर्पित व्यक्तित्व की अपेक्षा भी होती है। मनुष्य ने ऐसी व्यवस्थाएँ साधने की चेष्टा की है जहाँ समष्टि सचमुच ही राजा हो जाय—राजा नाम का व्यक्ति-विशेष रहे ही नहीं,…लोकतन्त्र यही साधना है। इसी के आनुषंगिक रूप में राज्य के ऐसे भी स्वरूप की आज साधना है कि राज्य संस्था-प्राण हो जाय, और संस्था नियम-प्राण : चलाने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों के भाव की—चाहे सद्भाव हो या दुर्भाव—ऐसे व्यक्तिनिष्ठ भाव-बोध की उसमें जगह ही न रहे।…यह चेष्टा धर्म के सत्य या दायित्व पक्ष को धर्म के भाव पक्ष से विलग कर देने की चेष्टा है।" (पृ. 175-176) यहाँ लेखक ने लोकतन्त्र के आदर्श रूप 'संविधानवाद' की बात की है जो अपने स्वरूप में धर्म-निरपेक्ष संकल्पना है। वहाँ 'धर्म' खोजना ही निरर्थक है, उसके 'भाव-पक्ष' की खोज की बात ही क्या? हाँ, उसे राजधर्म के रूप में लें (जिसमें अक्सर लिया नहीं जाता) तो बात अलग है।

अपने विचार-क्रम में लेखक पश्चिम का भी सर्वेक्षण करता है। वह लिखता है— "अभी पिछले सौ सालों के भीतर ही अकेले पश्चिम की सभ्यता में इसको लेकर कई वाद उठ चुके हैं—कम्युनिज़्म, फ़ासिज़्म, कैपिटलिज़्म, और उचित व्यवस्था की साधना के नाम पर हिंसा का प्रकाण्ड ताण्डव होता ही रहा है। और यह सब 'धर्म-निरपेक्ष' हुआ है—यानि 'रिलिजन' को हम दोषी नहीं ठहरा सकते, जिस पर अब तक ऐसे अपराध थोप देने का पश्चिम में चलन रहा है। बीसवीं सदी के 'महत्' कर्म सेक्यूलर शक्ति के ही कर्म रहे हैं। उन्हीं का धर्म-निरपेक्ष दुश्चक्र-प्रवर्तन रहा है।" (पृ. 181-182)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लेखक अपने समूचे आकलन का निष्कर्ष निकालता है कि अगर इतिहास-यात्रा समानता और स्वतन्त्रता की यात्रा है तो हमें अहिंसा मात्र को नहीं, 'आनृशंस्य' को अपनाना होगा। "अहिंसा-व्रत अध्यात्म का साधक हो सकता है, धर्म का नहीं। इसीलिए युधिष्ठिर और कृष्ण ने अहिंसा परमो धर्मः का अर्थ आनृशंस्य परो धर्मः लिया है। आनृशंस्य में अहिंसा 'अवध' के साथ 'प्रभव' या अभ्युदय का सम्पुट बनाती है।" (पृ. 183) आनृशंस्य स्वतन्त्र होकर धर्म-साधना का आदर्श तो रखता ही है, यह परार्थ-भाव में भी स्थित है, मैत्री में, करुणा में। "इस प्रकार अनेक स्वतन्त्रों के ऐक्य का क्षेत्र साधता है आनृशंस्य। पर धर्म जिस स्वातन्त्र्य को बनाए रखने की व्यवस्था साधता है वह साधना कुछ विचित्र सी है। सोचिए तो उलटबाँसी है···धर्म अनेक के स्वातन्त्र्य को साधता है।···अनेक का स्वातन्त्र्य भेद की साधना है—एक-एक के भिन्न स्वातन्त्र्य की। पर जो तन्त्र-व्यवस्था···इसे सम्भव बनाती है, जो एक गहरे अर्थ में हमें ही साधती है, वह अभेद का परस्पर-भाव का ही तन्त्र हो सकती है। धर्म की विषम माँग यही है : वह एक में अनेक और अनेक में एक की स्वीकृति है। स्वीकृति ही नहीं वह अनेक के भेद को रखते हुए एक-एक को अपने आप में अधिक से अधिक स्वतन्त्र कर देने की साध है, साथ ही धर्म की मूलभूत श्रद्धा है कि अनेक में एक मूलग्राही, स्वरूपग्राही परस्पर-भाव है, अभेद है। पर यों धर्म का तत्त्व जिस प्रेरणा पर टिका है, उसी में हम विरोध को भी जागता देख सकते हैं : दूसरा मुझसे भिन्न है भी और नहीं भी है। वह स्वतन्त्र है, मेरी ही तरह स्वतन्त्र है, पर उसे स्वतन्त्र रखना, उसके स्वातन्त्र्य को भूमा देना, मेरे ही सचमुच स्वतन्त्र होने का अभिन्न अङ्ग है। लक्षण भी।" (पृ. 183)

इस प्रकार यहाँ डॉ. मुकुंद लाठ की इस गम्भीर पुस्तक 'धर्म-संकट' का यथासम्भव उनके ही शब्दों में संक्षेपण भी प्रस्तुत कर दिया गया जो लेखक के प्रांजल भाषा में वस्तुनिष्ठ विश्लेषण की अगाध क्षमता और वैचारिकी प्रतिभा को भरसक प्रदर्शित करता है। पुस्तक में तह-दर-तह प्रश्नों को उभारता और धर्म के तत्त्व को उसके सम्भावित अङ्गों-प्रत्यंगों में काट-छाँट कर समझने-समझाने का आयोजन ज़रूर किया गया है और यह भी ठीक है कि इस तरह के व्यवसाय की कोई व्यावहारिक उपादेयता नहीं झलकती, फिर भी यह कृति धर्म के मर्म को, उसकी मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय पुष्टि को, तथा उसके प्रभाव को अपनी समर्थ शैली में, जो शुद्ध-प्रांजल शब्दों के प्रयोग से गुरु-गम्भीर है और साथ ही जन-सामान्य की तलवर्ती भाषा के प्रयोग से और भी प्रभावशाली बन गई है, धर्म-विषयक चिन्तन की समस्याओं से आधुनिक मस्तिष्क को झकझोर देती है। जहाँ तथाकथित वैज्ञानिक अभिरुचि-सम्पन्न आज की सभ्यता मनुष्य के आध्यात्मिक बल को तोड़ रही है, धर्म की उपयोगिता को निरर्थक बना दे रही है, वहीं लेखक ने यह कृति देकर हमें धर्म-संस्कृति से भीतर से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जुड़ने और उस पर गहराई से सोचने-विचारने के लिए वैचारिक आधार दिया है। वैज्ञानिक बुद्धिवाद के चकाचौंध से समय निकाल कर मूल्यधर्मी मनुष्य को यह आन्तरिक निष्ठा और विचारणा के सत्यान्वेष के 'महत्तर' की ओर उन्मुख करती है। इस क्रम में लेखक ने वैचारिक-प्रकाश की किरणों का ऐसा सुन्दर जाल रचा है कि पुस्तक को पढ़ते हुए लगता है जैसे इन्द्रधनुष के भीतर से होकर गुज़र रहे हों। पुस्तक कठिन ज़रूर है, इसके पाठक 'सरिता' और 'मनोरमा' के पाठकों से कम होंगे, लेकिन जो होंगे वे इसे पूरा पढ़ेंगे। पूरी पढ़ लेने के बाद जो चीज़ मन में बसी रह जाएगी वह है आनन्द-दीप्ति! पाठक-पथिक तमस् को चीरने वाला प्रकाश स्वयं तो पायेंगे ही, औरों को भी प्रकाशित करेंगे।

विष्णुदत्त पांडेय
रीडर, दर्शन विभाग,
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

❑

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पुस्तक–समीक्षा–3

केन एवं अन्यान्य उपनिषद् लेखक श्री अरविन्द, सम्पादन एवं अनुवाद—अर्चना माहेश्वरी, प्रकाशक—श्री अरविन्द आश्रम, पुदुच्चेरि–2, प्रथम संस्करण 2007, पृ.सं. 479, मूल्य 210/-)

सम्पादक के अनुसार, "उपनिषदों के अनुवाद एवं भाष्य के इस खण्ड में श्री अरविन्दकृत केनोपनिषद् के अनुवाद एवं भाष्य के अन्तिम संस्करण के साथ–साथ उनके द्वारा किए गये अन्य छः उपनिषदों (कठ, मुण्डक, प्रश्न, माण्डूक्य, ऐतरेय तथा तैत्तिरीय) के सम्पूर्ण अनुवाद एवं अन्य उपनिषदों (श्वेताश्वतर, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कैवल्य तथा नीलरुद्र) के आंशिक अनुवाद तथा भाष्य भी हैं। 'उपनिषदों का तत्त्व दर्शन' आदि सुगंभीर लेखों का भी इस खण्ड में समावेश है। इस संकलन के द्वितीय एवं तृतीय भागों की सामग्री श्री अरविन्द की पाण्डुलिपियों से संगृहीत है।"

इस सामग्री का कुछ अनुमान देने के लिए इसकी अनुक्रमणिका देना आवश्यक है, जो इस प्रकार है—

प्रथम भाग की भूमिका—उपनिषदों का तत्त्व दर्शन : प्रस्तावना, परब्रह्म का निरूपण, परब्रह्म का स्वरूप, परब्रह्म, माया, दृश्यमान् जगत् का सिद्धान्त, माया : परम निरपेक्ष की तपः शक्ति, त्रिविध ब्रह्म, पृ. 17–82.

द्वितीय भाग—श्री अरविन्द के द्वारा प्रकाशित अनुवाद एवं भाष्य : 1. केनोपनिषद् 83–187, कठोपनिषद् 187–217, मुण्डकोपनिषद् 217–235, तैत्तिरीयोपनिषद् पर लघु टीकाएँ 235–248।

तृतीय भाग : पाण्डुलिपियों से संगृहीत अनुवाद एवं भाष्य, प्रथम अनुभाग—सम्पूर्ण अनुवाद : प्रश्नोपनिषद् (अथर्ववेदीय) 249–267, माण्डूक्योपनिषद् 268–271, ऐतरेयोपनिषद् 272–281, तैत्तिरीयोपनिषद् 282–310.

द्वितीय अनुभाग : अपूर्ण अनुवाद एवं भाष्य—श्वेताश्वतरोपनिषद् 311–326, छान्दोग्योपनिषद् 327–334, छान्दोग्योपनिषद् पर टिप्पणियाँ 335–345, बृहदारण्यकोपनिषद् 346–351, बृहदारण्यकोपनिषद् पर एक टीका 352–368, कैवल्योपनिषद् 369–371, नीलरुद्रोपनिषद्, 372–378.

तृतीय अनुभाग : केनोपनिषद् पर अपूर्ण टीकाएँ—केनोपनिषद् : एक अपूर्ण टीका 379–395, केनोपनिषद् पर एक टीका 396–398, टीका के तीन अंश 399–400, केनोपनिषद् टिप्पणी सहित आंशिक अनुवाद 401–406.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चतुर्थ अनुभाग : दो वैदान्तिक कृतियों के असमाप्त अनुवाद—गौडपाद की कारिकाएँ 407–422, सदानन्द का वेदान्तसार 422–428, वेदान्त पर विविध लेख—चार लेखांश 429–432, हिन्दू धर्म की अन्तरात्मा 433–438, वैदान्तिक भाष्य का एक असमाप्त कार्य 439–451, वेदान्त का धर्म 452–454, वैदान्तिक दृष्टि में क्रम–विकास 455–461, सिद्धि के लिए साधन 462–465, वेदान्त पर कार्य के एक अध्याय का अंश 466–476, एवं अमरत्व 477–479.

उपनिषदों के भाष्य तो हमारे देश के बहुत से दार्शनिक प्राचीनकाल से ही करते आये हैं, किन्तु वे उन्हें श्रुति–प्रमाण के रूप में लेते हुए उनकी संगति अपने–अपने सम्प्रदाय से बैठाने के उद्देश्य से ही उनके भाष्य करते आये हैं, उन्होंने उनके द्रष्टा ऋषियों की दृष्टि की गहराई में निस्संग भाव से पैठने का प्रयत्न नहीं किया। यह प्रयत्न पहली बार श्री अरविन्द में दृष्टिगोचर होता है और उनकी स्वयं की प्रतिभा आर्ष होने से उनमें यह अनन्यसाधारण सामर्थ्य भी थी कि वे उस गहराई में अधिक से अधिक गहरे उतर सके। इसके अतिरिक्त वे बौद्धिक प्रखरता और विस्तृत बौद्धिक ज्ञान से भी सम्पन्न थे। इसलिए उनके उपनिषद्, वेद और श्रीमद्भगवद्गीता के भाष्यों में जो अथाहता और व्यापकता है वह अन्यत्र अलभ्य है।

श्री अरविन्द ने यह सब लेखन अंग्रेज़ी में किया, संस्कृत या किसी आधुनिक भारतीय भाषा में नहीं, यह इस देश का ऐतिहासिक दुर्भाग्य है। उनके बंगला में अनुवाद तो श्री अनिर्वाण जैसे मूर्धन्य विचारकों ने किये हैं, इसलिए वे तो मूल जैसे होंगे ही, किन्तु अर्चना माहेश्वरी का हिन्दी में यह अनुवाद भी किसी भी तरह किंचित् मात्रा में भी कम निर्दोष नहीं है। इसे पढ़ते हुए कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि हम अनुवाद पढ़ रहे हैं, मूल नहीं।

यह पुस्तक सब पुस्तकालयों में ही नहीं, उन सबके घरों में भी होनी चाहिए जो उपनिषदों को जानना–समझना चाहते हैं, और उपनिषदों को तो सब को जानना–समझना चाहिए ही।

यशदेव शल्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai